समकालीन हिन्दी कविता

विश्वनाथप्रसादतिवारी

प्रस्तुत पुस्तक में समकालीन हिन्दी कविता के चुने हुए कवियों के काव्य का सूक्ष्म विश्लेषण उनके सम्पूर्ण कृतित्व को ध्यान में रखकर किया गया है और इस प्रकार उनके काव्य वैशिष्ट्य को रेखांकित किया गया है। समकालीन हिन्दी कविता का विकास एक बहती धारा के समान है। उसके प्रवृत्ति-गत अध्ययन से केवल उसकी एक विकास-परम्परा का पता चलता है। इस प्रकार के अध्ययन में प्रायः शीर्षकों-उपशीर्षकों के अन्तर्गत कवियों का वर्ग निर्धा-रण मात्र होकर रह जाता है। अलग-अलग कवियों की कविताओं का अध्ययन करते हुए उन कवियों के अपने संस्कारों, उनकी भिन्न जीवन-दृष्टियों, उनकी काव्यविषयक धारणाओं तथा समकालीन वास्तविकता के विविध पहलुओं की जानकारी होती है।

इस पुस्तक में कवियों के भिन्न शब्द प्रयोगों का बड़ी बारीकी से विश्लेषण करते हुए लक्ष्य किया गया है कि किस प्रकार एक ही समय में लिखनेवाले कवियों की काव्य-चिन्ताएँ और काव्य-संवेदनाएँ एक दूसरे से अलग हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक विशिष्ट है। नयी कविता के सहृदय समीक्षक डॉ. विश्वनाथ-प्रसाद तिवारी (जो स्वयं नयी कविता के एक प्रमुख कवि हैं) ने इस गम्भीर आलोचना पुस्तक में समकालीन हिन्दी कविता के साथ चलते हुए उसके निकट अध्ययन (क्लोज रीडिंग) की कोशिश की है।

Purchased at Delhi
Feb.- March 1987

समकालीन हिन्दी कविता

समकालीन हिन्दी कविता

विश्वनाथप्रसाद तिवारी

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

कुछ अलग से

कविता का अध्ययन एक जटिल व्यापार है। शायद इतना जटिल साहित्य-विधाओं में और किसी विधा का अध्ययन नहीं। नयी कविता का अध्ययन तो और भी कठिन है। प्रेषणीयता का प्रश्नचिह्न उस पर उसके जन्म के साथ ही लगाया गया है जो आज भी ज्यों-का-त्यों लगा हुआ है। नयी कविताओं में कुछ तो ऐसी हैं जो बहुत कोशिश के बाद भी पूरी समझ में नहीं आतीं। प्रायः देखा जाता है कि हर कवि के कुछ प्रिय शब्द या खास बिम्ब होते हैं जिनका वह बार-बार उपयोग करता है। ये शब्द उस कवि को अन्य कवियों से अलग कर उसकी अपनी मानसिकता को स्पष्ट करते हैं तथा पाठक को उसके असली संसार में ले जाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में मैंने कवियों के भिन्न शब्द-प्रयोगों को लक्ष्य करते हुए दिखाया है कि किस प्रकार एक ही समय में लिखनेवाले कवियों की काव्य-चिन्ताएँ और काव्य-संवेदनाएँ एक-दूसरे से अलग हैं। यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं कि कई कारणों से इस पुस्तक में सभी कवियों का अध्ययन एक जैसा गहरा नहीं हो पाया है, पर अधिकांश का हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। कुछ कवियों ने तो व्यक्तिगत बातचीत में स्वीकार किया है कि उनकी कविताओं के बारे में पहली बार इतनी सहानुभूति और तटस्थ बारीकी से विचार किया गया है। गो इस स्वीकृति का विशेष महत्त्व नहीं होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में समकालीन हिन्दी कविता के कुछ चुने हुए कवियों के काव्य का विश्लेषण उनके सम्पूर्ण कृतित्व को ध्यान में रखकर किया गया है और इस प्रकार उनके काव्य-वैशिष्ट्य को रेखांकित किया गया है। समकालीन हिन्दी कविता का विकास एक बहती धारा के समान है। उसके प्रवृत्तिगत अध्ययन से केवल उसकी एक विकास-परम्परा का पता चलता है। इस प्रकार के अध्ययन में प्रायः शीर्षकों-उपशीर्षकों के अन्तर्गत कवियों का वर्ग-निर्धारण मात्र होकर रह जाता है। जबकि अलग-अलग कवियों की कविताओं का अध्ययन करते हुए उन कवियों के अपने संस्कारों, उनकी

भिन्न जीवन-दृष्टियों, उनकी काव्यविषयक धारणाओं तथा समकालीन वास्तविकता के विविध पहलुओं की जानकारी होती है।

आज की पत्र-पत्रिकाओं में जो आलोचनाएँ प्रायः लिखी जा रही हैं उनमें ध्यान रचना पर केन्द्रित नहीं दिखायी पड़ता। या तो कवि की प्रशंसा की जाती है या उसका विरोध किया जाता है। व्यक्तिगत गुटबन्दियों में फँसकर यह उखाड़-पछाड़ और भी तीव्र होता जा रहा है। मूल्यांकन के कुछ खास चालू मुहावरे बन गये हैं। जो ज्यादा चालाक समीक्षक हैं वे कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरों पर बड़ी सफाई से कूदते-फिसलते निकल जाते हैं और अपने भाषा-कौशल से एक वाग्जाल रचने में सफल हो जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन के बारे में सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि जहाँ तक हो सका है, मैंने समकालीन कविता के साथ यात्रा की है—उसे अप्रीशिएट करने के अन्दाज में। उखाड़-पछाड़ के लिए नहीं। हाँ, कवि का साथ भी वहीं तक दिया है जहाँ तक गुंजाइश थी। इस दृष्टि से इसे मैं समकालीन कविता के निकट अध्ययन (क्लोज रीडिंग) की एक कोशिश मात्र मानता हूँ।

बेतियाहाता, गोरखपुर

विश्वनाथप्रसाद तिवारी

क्रम

व्यक्तित्व और स्वातन्त्र्य की खोज

अर्थ हमारा
जितना है, सागर में नहीं
हमारी मछली में है
सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है।[1]

अज्ञेय (1911 ई.) की कविता का अर्थ शायद उस मछली में ही है जिसे सभी दिशाओं में सागर घेर रहा है। यह 'मछली' अज्ञेय की कविता का प्रिय प्रतीक है। 'मछली' अर्थात् अस्तित्व। मछली अर्थात् जिजीविषा। जल के बाहर निकाल ली गयी मछली—तड़पती, छटपटाती, ऐंठती और हाँफती। क्या चाहती है वह? जीना। मुक्ति। यह मुक्ति और जीने की लालसा या कहें स्वातन्त्र्य की खोज ही अज्ञेय के काव्य की सही जमीन है। अज्ञेय के पूरे कृतित्व में 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है। यह शब्द कवि-मन की मुक्ति-लालसा को व्यक्त करता है। क्योंकि स्वातन्त्र्य में ही व्यक्तित्व की सार्थकता भी सिद्ध होती है अतः अज्ञेय के व्यक्तित्व की खोज का अर्थ भी स्वातन्त्र्य की ही खोज है। 'भग्नदूत' (1933 ई.) से लेकर आज तक अज्ञेय की काव्य-यात्रा इसी मुक्ति के लिए है—

अपनी हर साँस के साथ
पनपते इस विश्वास के साथ
कि हर दूसरे की हर साँस को
हम दिला सकेंगे और अधिक सहजता
अनाकुल उन्मुक्ति, और गहरा उल्लास।[2]

अज्ञेय का एक पुराना (सन् 1939-40 ई. के आसपास का) प्रतीक है 'हारिल'। यह भी अस्तित्व का ही प्रतीक है जिसमें उड़ने की आकुलता है और जिसे दसों दिशाओं में आकाश घेर रहा है—

काँप न, यद्यपि दसो दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है।[3]

ध्यान रखने की बात है कि मछली को सभी दिशाओं में 'सागर' घेरता है और 'हारिल' को 'शून्य नभ'। यह 'सागर' और 'शून्य नभ' क्या है ? यह या तो अस्तित्व की इकाई को घेरता हुआ समाज है या फिर सामाजिक-नैतिक वर्जना। इस वर्जना के विरोध में ही अज्ञेय की कविता जन्मती और खड़ी होती है—

खोल दो सब बन्धनों के दुर्ग के ये रुद्ध सिंहद्वार[4]

यहाँ प्रसंगवश यह कह देना चाहता हूँ कि अज्ञेय के प्रकृति प्रेम और क्षणवाद के मूल में भी इसी वर्जना से मुक्ति का प्रयास है। अज्ञेय की रचनाओं में शुरू से अब तक प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण और उसके जीवन्त चित्र प्राप्त होते हैं—हरी घास, सागर तट, नदी तट, रेत, पत्ती, चिड़िया, कली, पपीहा, ललाती साँझ, चदरीली चाँदनी, काजलपुती रात, पूनो, इन्द्रधनु, छाया, पगडण्डी, लहर, झील, बदली, क्वार की बयार आदि। ये चित्र पन्त में भी प्राप्त होते हैं पर दोनों में अन्तर है। प्रकृति के प्रति अज्ञेय का लगाव रहस्यवादी लगाव नहीं है। यह लगाव मुक्त प्रकृति के साहचर्य में प्राप्त होनेवाले ऐन्द्रिक सुख के कारण है। अज्ञेय प्रकृति की ओर इसलिए आकर्षित होते हैं कि वे प्रकृति के बीच मुक्त जीवन का सुख--वन्य सुख प्राप्त करना चाहते हैं। आदिम जीवन की गन्ध कवि-मन को आकर्षित करती है। यह नागर जीवन की भीड़ संस्कृति, कुण्ठा, यान्त्रिक दबाव और वणिक वृत्ति से अपनी निजता को समेटकर दूर भागने का प्रयास है। 'हरी घास पर क्षण भर' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता में अज्ञेय कहते हैं—

आओ, बैठो
तनिक और सटकर, कि हमारे बीच स्नेह भर का
व्यवधान रहे, बस
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

× × ×

नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में
अतिशय चिकनाई है साबुन की।[5]

अज्ञेय की कई कविताओं में नगर-सभ्यता पर व्यंग्य किया गया है। 'साँप' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

साँप !
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ—(उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डँसना—
विष कहाँ पाया ?[6]

जैसा कि कहा जा चुका है, क्षण के प्रति जो आग्रह अज्ञेय में प्राप्त होता है वह जीने का ही आग्रह है—जिजीविषा है—क्षणवाद का कोई स्वतन्त्र दर्शन अज्ञेय में नहीं—

रोज सबेरे मैं थोड़ा-सा अतीत में जी लेता हूँ
क्योंकि रोज शाम को मैं थोड़ा-सा भविष्य में मर जाता हूँ।

क्षण का आग्रह मात्र इसलिए है कि कवि इस कुण्ठित सभ्यता के बीच क्षण-भर की छूट माँग लेना या ले लेना चाहता है—

एक क्षण-भर और
रहने दो मुझे अभिभूत।

इस क्षण के आग्रह के पीछे वर्तमान को भोगने की तीव्र लालसा है। अज्ञेय के ही शब्दों में, "क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है।"[7] अज्ञेय के लिए अनुभूति का क्षण, सर्जना का क्षण, प्यार का क्षण और समर्पण का क्षण ही सत्य है, क्योंकि उसी में वे जीवित हैं—

साँस का पुतला हूँ मैं
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवनमुक्त मैं किया गया हूँ।[8]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अज्ञेय की जीवनमुक्ति मुख्यतः रूढ़ सामाजिक नैतिकता से मुक्ति की ही बोधक है। भूमि के कम्पित उरोजों पर मेघों का झुकना, लाल गुलाब की तपती-पियासी पंखुड़ियों के होंठ, हरियाली का बादलों के चुम्बनों से खिल उठना, कली का शरद की धूप में नहाकर निखर उठना, मन्दिर के भग्नावशेष पर चंचुक्रीड़ा करते दो वन-पारावत, नदी की जाँघ पर सोया अँधियारा और डाह-भरी चोर-पैरों से उझककर झाँकती चाँदनी, छातियों के बीच घर की तलाश आदि—अज्ञेय के काव्य में प्रयुक्त यह शब्दावली यौन-वर्जनाओं के विरुद्ध यौन-मुक्ति की ही शब्दावली है। 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है—"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन-वर्जनाओं का पुंज है।" अज्ञेय के काव्य में जो एक दर्द और आत्मपीड़न का स्वर मिलता है उसका सम्बन्ध भी इन्हीं यौन-वर्जनाओं से है।

'हारिल' और 'मछली' के ही समान अज्ञेय-काव्य के अन्य प्रिय प्रतीक हैं : 'सागर, 'हरी घास' और धूप'। ये प्रतीक ही अज्ञेय के काव्य-दुर्ग की कुंजी हैं और इन सबका सम्बन्ध मन के एक ही कोने से है, जिसकी चर्चा पहले कर चुका हूँ। 'धूप' स्वच्छता, खुलापन और उस गरमाहट का प्रतीक है जो आलिंगन में प्राप्त होता है। 'हरी घास' कवि के ही शब्दों में "अधुनातन

मानव-मन की भावना की तरह। सदा बिछी है—हरी, न्यौतती।"[9] यह सहजता और मुक्ति का प्रतीक है। 'सागर' कवि के ही शब्दों में—

एक भव्यता का बोध है
एक तृप्ति है, अहं की तुष्टि है, विस्तार है :
विराट सौन्दर्य की पहचान है।[10]

तात्पर्य यह है कि अज्ञेय के ये सभी प्रिय प्रतीक मुक्ति और स्वातन्त्र्य से जुड़े हुए हैं तथा ये जिस अर्थ का बोध कराते हैं, वही अज्ञेय के लिए जीवन का भी अर्थ है—

क्योंकि यही सब तो है जीवन
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला
गन्धवाही मुक्त खुलापन,
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य
निर्व्यास निस्सीम का[11]

अज्ञेय में यदि कोई दुखवाद है तो वह भी इसी मुक्ति के लिए है। क्योंकि—

और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने
किन्तु जिनको माजता है
उन्हें यह सीख देता है
कि सबको मुक्त रखें।

अज्ञेय को छायावादी भी कहा गया है और उनकी कविता में गैररोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर भी विचार किया गया है। वैसे अज्ञेय रोमानीपन से अपने को पृथक् नहीं कर पाये हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ विशेषतः 'भग्नदूत' (1933 ई.) और 'इत्यलम्' (1946 ई.) की रचनाएँ काफी रोमाण्टिक हैं किन्तु अपनी परवर्ती रचनाओं जैसे 'हरी घास पर क्षण भर' (1949 ई.), 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' (1957 ई.), 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (1959 ई.) तथा 'आँगन के पार द्वार' (1961 ई.) आदि में उन्होंने रोमानीपन से अपने को बहुत-कुछ अलग किया है। ईलियट की भाँति अज्ञेय भी यह स्वीकार करते हैं कि जितना ही बड़ा कलाकार होगा, भोगनेवाले मन और रचनेवाली मनीषा का अन्तर भी उतना ही स्पष्ट होगा। कला में कवि की यह निर्वैयक्तिकता और जीवन के प्रति उसकी निस्संगता उसे छायावादी बोध से अलग करती है। जीवन के प्रति कवि का भाव निस्संग समर्पण का भाव है। कवि के ही शब्दों में, "मेरे निकट जीवन के प्रति यह प्रेम एक निस्संग विस्मय का ही भाव है। × × × हम अपने भीतर पूरी तरह यह स्वीकार कर लें कि कभी भी यह समाप्त हो जा सकता है—यानी निस्संग हो जावें—और उतनी ही सम्पूर्णता से यह भी अनुभव करें कि वह समाप्त नहीं हुआ है, चल रहा है—यानी विस्मय में डूब जावें, मेरे निकट जीवना-

नन्द का यही नुस्खा है।"[12] यायावरी वृत्तिवाले शेखर को चीन की एक पुरानी कविता बड़ी अच्छी लगती है जिसका भावार्थ है—"व्यक्ति क्यों यह इच्छा लेकर अलसाया पड़ा रहे कि उसकी हड्डियाँ भी उसके पिता की हड्डियों के साथ ही समाधिस्थ हों ? जहाँ भी कोई चला जाय, वहीं कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी मिल सकती है।"[13] यही कारण है कि अज्ञेय के काव्य में यायावरी मुद्रा अधिक है। वे चीजों में शरीक नहीं होते, तटस्थ द्रष्टा की तरह तुष्ट होकर रह जाते हैं और इसे आलोचकों ने उनकी कविता की कमजोरी भी कहा है। बहरहाल अज्ञेय की कविताओं में कम-से-कम वह भावावेग और आसक्ति भाव नहीं प्राप्त होता जो छायावादी कविताओं का प्राण है। उनकी कविताओं में एक संयत और अनुशासित मनःस्थिति है और वे भावावेग से या अतीत के सम्मोहन से या यथार्थ के स्फीत चित्रण से भरसक बचने का प्रयास करते हैं—

याद कर सकें अनायास
और न मानें
हम अतीत के शरणार्थी हैं,
× × ×
चलो, उठें अब
— —
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके प्रेमी बैठे हैं।
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने।[14]

अज्ञेय की बौद्धिकता उन्हें छायावादी भावबोध से अलग करती है। "अपने ही पूछे हुए एक प्रश्न ने, अपनी ही कही हुई एक बात ने, शेखर के जीवन की गति बदल दी। उसने देखा—समझ लिया—कि कोई किसी का नहीं है यानी इतना नहीं है कि उसका स्वामी, निर्देशक, भाग्यविधायक बन सके। कोई ऐसा नहीं है जिस पर निर्भर किया जा सके, जिसे प्रत्येक बात में पूर्ण, अचूक माना जा सके। यदि किसी का कोई है, तो उसकी अपनी बुद्धि। मनुष्य को उसी के सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है।"[15] इसी बुद्धि के सहारे अज्ञेय 'सत्य की उपलब्धि के लिए कला के क्षेत्र में आते हैं। पर यहाँ वे केवल सत्य का नहीं वरन् 'रागदीप्त सत्य' का आग्रह करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है, "रचना के क्षेत्र में गहनतम चिन्ता और क्या हो सकती है सिवा इसके कि जो रचूँ वह रागदीप्त सत्य हो—वह सम्पूर्ण सच हो, और जो सच है उसका अधिक-से-अधिक उसकी पकड़ में आ जाये और उसमें रागदीप्त हो उठे। इस पर शंका हो सकती है कि सत्य

तो दर्शन का क्षेत्र है, कला का क्षेत्र सुन्दर का ही है, और मैं उस बात का खण्डन नहीं करूँगा। कला भी ज्ञान का एक प्रकार या क्रिया है अर्थात् सत्य की उपलब्धि की एक साधना है, सुन्दर उसकी रागदीप्ति का उपकरण या साधन है।"[16] इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादोत्तर काल में विचार को कविता में प्रतिष्ठित करने का सबसे प्रथम प्रयत्न अज्ञेय का है। अपने कवि-बन्धु को सम्बोधित करते हुए वे लिखते हैं—

सुनो कवि ! भावनाएँ नहीं हैं सोता,
भावनाएँ खाद हैं केवल
जरा उनको दबा रखो
जरा-सा और पकने दो
ताने और तचने दो

—कवि, हुआ क्या फिर[17]

अज्ञेय की कविताओं में भावना का यह पका हुआ रूप प्राप्त होता है। उनका चिन्तक रूप उनकी कविताओं में सर्वत्र उभरा हुआ है। यह चिन्तन ही कवि को दार्शनिक और रहस्यवादी व्यक्तित्व प्रदान करता है तथा उसे मितकथन के लिए बाध्य करता है। अज्ञेय की छोटी कविताओं के प्रसंग में यह बात याद रखने की है। शेखर तो खैर सूत्र ही बोलता है पर ऐसी सूक्तियाँ अज्ञेय की कविता में भी बहुत हैं। अज्ञेय अपने अनुभवों को रुक-रुककर सूक्तियों के रूप में सामान्यीकृत करते चलते हैं जो कहीं-कहीं उपदेशात्मक होकर उनकी कविता की कमजोरी बनती है। वैसे भी सूक्ति-कथन को कविता की कमजोरी ही माना जा सकता है। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि अज्ञेय के काव्य में प्राकृतिक और मानवीय संसार के भी बड़े जीवन्त चित्र प्राप्त होते हैं, पर प्रायः कवि उन्हें किन्हीं सामान्यीकरणों या अमूर्तनों की ओर ले जाता है, परिणामतः इन चित्रों का उल्लास और वैभव समाप्त हो जाता है और कवि का रचना-संसार जीवन का संसार न होकर सामान्यीकरणों का संसार हो जाता है। अज्ञेय की कविता चिन्तन को केन्द्र में रखकर खड़ी होती है अतः प्रायः वह कथन-काव्य होती है। अज्ञेय उसे मात्र कथन होने से बचाते हैं पर सदा ऐसा नहीं कर पाते। अज्ञेय के परवर्ती काव्य में उनका बुद्धिवाद एक रहस्यवाद में परिणत होता है। उनका 'मौनवाद' इसी रहस्य की उपज है जिसे कवि ने 'असाध्य वीणा' और कई अन्य कविताओं में व्यक्त किया है। इस रहस्य के मूल में मानवीय जिज्ञासा है जिसे कवि मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति स्वीकार करता है। शेखर कहता है, "असली तपस्या तो जिज्ञासा है क्योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है।"[18] वैसे रहस्य की यह प्रवृत्ति अज्ञेय के काव्य में आरम्भ से ही मिलती है पर, परवर्ती संकलनों ('आँगन के पार द्वार' और बाद के संकलनों) में यह रहस्यवाद उनकी कविता की रूढ़ि के रूप में दिखायी देता है—

यों मैं
अपने रहस्य के साथ
रह गया
सन्नाटे से घिरा
अकेला
अप्रस्तुत
अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र
निष्कवच
वध्य ।[19]

—निरस्त्र

अज्ञेय का चिन्तन कहीं-कहीं प्रार्थना का भी रूप लेता नज़र आता है किन्तु उनका रहस्यवाद कोई धार्मिक रहस्यवाद नहीं है। वे तो ईश्वर के स्वीकृत रूप पर विश्वास भी नहीं करते—

इस विकास गति के आगे है कोई दुर्दम शक्ति कहीं
जो जग की स्रष्टा है, मुझको तो ऐसा विश्वास नहीं ।।[20]

—प्रार्थना

अज्ञेय का रहस्यवाद बहुत-कुछ वैज्ञानिक या बुद्धिवादी रहस्यवाद है। यह रहस्यवाद किसी दैवी शक्ति की खोज न करके आत्मरूप की ही खोज करता है—

मैं भी एक प्रवाह में हूँ
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है
मैं उस असीम शक्ति से
सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ—
अभिभूत होना चाहता हूँ—
जो मेरे भीतर है।[21]

—रहस्यवाद

यह मानवीय स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा या व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की खोज अज्ञेय की कला-साधना की एक महत्त्वपूर्ण दिशा है। शेखर के जीवन-दर्शन को सूत्र रूप में वे 'स्वातन्त्र्य की खोज' का ही दर्शन मानते हैं (आत्मनेपद)। वे मानवीय शक्ति को ही सर्जक और अन्ततः पूज्य मानते हैं। उसी के प्रति नमित और अर्पित होते हैं—

भीड़ों में
जब-जब जिससे आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा भगवान-सा
अकेला ।[22]

'नदी के द्वीप' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता में अज्ञेय स्वीकार करते हैं कि

हम नदी के द्वीप हैं। हम बहते नहीं हैं क्योंकि बहना रेत होता है और रेत बनकर सलिल को गँदला बनाना है, अनुपयोगी बनाना है।[23] इस मानवीय व्यक्तित्व के विकास के लिए अज्ञेय समाज को साधक ही मानते हैं बाधक नहीं और 'यह द्वीप अकेला' (बावरा अहेरी) जैसी कविताओं में इकाई को समाज से जोड़ने की भी बात करते हैं। मगर यह सही है कि वे इकाई की सत्ता समाज से पहले स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि व्यक्तित्व को समाज द्वारा बाधित नहीं होना चाहिए अन्यथा उसकी सर्जनात्मक शक्ति समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार वे जीवन का अर्थ ढूंढ़ने के लिए व्यक्तित्व की खोज को अनिवार्य शर्त मानते हैं। "हर व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है और हर कोई जीवन का अन्तिम दर्शन अपने जीवन में पाता है, किसी की सीख में नहीं।"[24] अपने एक पढ़े हुए विदेशी उपन्यास का स्मरण करते हुए शशि कहती है, "किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नहीं करना चाहिए कि जीवन में किसी दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश न रह जाय—कि जीवन एक स्वतन्त्र इकाई है और यदि वह बिल्कुल पराधीन हो जाय तो यह कला नहीं है क्योंकि कला के आदर्श से उतरकर है।"[25] इसी कारण अज्ञेय साम्यवादी दर्शन को अधूरा और पंगु मानते हैं तथा लोकतन्त्र को अधूरा मानते हुए भी उसे साम्यवाद की तुलना में श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।[26] वे अपने प्रति दायित्व को प्राथमिक मानते हैं और समाज के प्रति दायित्व को उसी से उत्पन्न।[27] उन्हीं के शब्दों में "समता उसी समाज में होती है जो स्वतन्त्र हो और समाज वही स्वतन्त्र होता है जिसका अंग व्यक्ति स्वतन्त्र हो और अपने स्वातन्त्र्य के उपभोग के लिए ही सामाजिकता का वरण करता हो।"[28]

अच्छी कुण्ठारहित इकाई
साँचे ढले समाज से
अच्छा, अपना ठाठ फकीरी
मंगनी के सुख-साज से।[29]

अज्ञेय की कविताओं में इस व्यक्तित्व के खोज की बेचैनी प्रकट हुई है—

यों मत छोड़ दो मुझे, सागर
कहीं मुझे तोड़ दो, सागर
कहीं मुझे तोड़ दो।
मेरी दीठ को और मेरे हिये को,
मेरी वासना को और मेरे मन को।
मेरे कर्म को और मेरे मर्म को
मेरे चाहे को और मेरे जिये को
मुझको और मुझको और मुझको
कहीं मुझसे जोड़ दो।[30]

पुरानी पीढ़ी के द्वारा अज्ञेय को क्रान्तिकारी रचनाकार कहा गया है। यह सच भी है क्योंकि रचना और चिन्तन के क्षेत्र में अज्ञेय निश्चय ही घेरे के बाहर--और काफी दूर तक, गये हैं। पर अज्ञेय का यह विद्रोह काफी संयत और अनुशासित विद्रोह है। विद्रोह के प्रति उनकी एक सुलझी दृष्टि है। शेखर कहता है—"किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है।[31] अज्ञेय प्रयोग और विद्रोह का आग्रह करते हुए भी परम्परा को स्वीकार करते हैं। अतीत उन्हें आलोक ही देता है, अन्धकार में नहीं ले जाता। शेखर सोचता है, 'अतीत से मेरी दृढ़ता घटती नहीं, बढ़ती है, क्योंकि जितना ही मैं उसे देखता हूँ, उतना ही मैं उसके भीतर की अनिवार्यता को पहचानता हूँ--जानता हूँ कि आज वह 'भूत' इसलिए है कि एक दिन वह भविष्य—अवश्यं भवितव्य—था।"[32] इस रूप में अज्ञेय भंजक विद्रोही नहीं हैं। यद्यपि 'इत्यलम्' में उन्होंने कहा है—

"मैं मरूँगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई हैं[33] —जन्म दिवस

पर वे कहीं भी जीवन की धज्जी नहीं उड़ाते। जैसा कि कहा जा चुका है, जीवन के प्रति अज्ञेय का भाव निस्संग समर्पण का भाव है—पूजा भाव है। उनकी कविताओं का मूल स्वर विनय, स्वीकार, शालीनता और कृतज्ञता का है। सर्जन उनकी दृष्टि में 'आँचल पसारकर लेना' है—

कहीं बड़े गहरे में
सभी स्वर हैं नियम,
सभी सर्जन केवल
आँचल पसारकर लेना।[34]

सातवें दशक के रचनाकारों ने अज्ञेय को इन्कार किया है। उन्हें रोमाण्टिक, रहस्यवादी और परम्परावादी कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अज्ञेय का नैतिक समर्थन साठोत्तरी पीढ़ी के साथ नहीं है और इसका सबसे बड़ा कारण है कि अज्ञेय के साथ अपने आभिजात्य संस्कार हैं जो उनकी सीमा निर्धारित करते हैं। अज्ञेय की कविता में वह विसंगति, विडम्बना, तनाव, छटपटाहट, आक्रोश, क्षोभ और उत्तेजना नहीं है जो साठोत्तर रचना की प्रमुख विशेषता है। इस सम्बन्ध में एक स्थल पर स्वयं अज्ञेय लिखते हैं, "दुनिया में बहुत-कुछ बदलना चाहता हूँ, कुछ उखाड़-पछाड़कर भी, पर जीवन के प्रति मेरा बुनियादी भाव आक्रोश का नहीं है।"[35] नयी पीढ़ी के मन में एक बात साफ रहनी चाहिए कि अज्ञेय उस रूप में नयी पीढ़ी के साथ कभी रहे भी नहीं। एक आभिजात्य और विशिष्टता उनमें शुरू से ही रही है। 'तारसप्तक' की कविताओं के तुलनात्मक विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

अज्ञेय की रचना को लेकर श्लीलता-अश्लीलता का सवाल भी उठा

है। एक रचनाकार के रूप में वे कला की समस्या ही प्रमुख मानते हैं—अन्य प्रश्नों को गौण। नैतिकता के प्रश्न को वे कला से सम्बद्ध नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में, "श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है। साहित्य का प्रश्न वह नहीं है। उसी प्रश्न को जब सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न बनाकर हम साहित्य की मर्यादा के भीतर लाते हैं तब वास्तव में प्रश्न वही रहता ही नहीं, दूसरा ही हो जाता है।"[36] नैतिकता की परीक्षा के लिए भी अज्ञेय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को प्रारम्भिक शर्त मानते हैं, "मनुष्य की नैतिकता का क्या अर्थ है सिवा इसके कि वह अपने कर्म के लिए उत्तरदायी है? लेकिन जिस कर्म का उसने स्वेच्छा से वरण नहीं किया है—वह उसका कर्म कैसे है? इसलिए अगर हम मनुष्य की वरण की स्वतन्त्रता नहीं मानते, तो हम उसकी नैतिकता की सम्भावना भी नहीं मानते।"[37] नैतिकता के सम्बन्ध में अज्ञेय निषेध को नीति का मूल नहीं मानते। वे सहज वृत्ति को स्वीकार करते हैं—

जिधर से आ रही है लहर
अपना रुख
उधर को मोड़ दो
तरी अपनी
चिर असंशय
लहर पर छोड़ दो।[38] —ओ लहर

अज्ञेय का कहना है "मुझमें साधारण होकर जीने का कोई आग्रह नहीं है, केवल सहज होना चाहता हूँ।"[39] पर इस स्वीकृति के बावजूद अज्ञेय की कविता में एक विशिष्टता की मुद्रा प्राप्त होती है, सहजता की नहीं। उनकी शालीनता में आत्मगौरव झलकता रहता है। वे अपने को रचनाकार या सर्जक की विशिष्ट भूमिका में रखते हैं, आत्मदान की थीम उनकी कविताओं में बहुत है और परवर्ती संकलनों में जहाँ वे उपकार करने या दाता की मुद्रा में आते हैं वहाँ उनका आत्मवैभव कविता की सीमा बनता है—

मैं डूबा नहीं, उमड़ा उतराया
फिर भीतर
दाता खिल आया।
हँसा, हँसकर तुम्हें बुलाया
तो यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी,
यह आहत, स्पर्श पूत भाव
यह मैं, यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार, या प्लवन,
यह प्यार, यह अडूब उमड़ना—
सब तुम्हें दिया। —भीतर जागा दाता

जो भी पाया, दिया :
देखा, दिया :
आशाएँ, प्यार, अहंकार, विनतियाँ, बड़बोलियाँ
ईर्ष्याएँ, दर्द, भूलें, अकुलाहटें,
जो भोगा, दिया : जो नहीं भोगा, वह भी दिया;
जो सँजोया, दिया,
जो खोया, दिया। —सागरमुद्रा-6

अज्ञेय का यह आत्मदान अहं और समर्पण के बीच का आत्मदान है। अहं-वादी व्यक्तित्व किसी अन्य स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। पर अज्ञेय इस आत्मदान में शायद एक दूसरे स्तर पर 'पर' के माध्यम से निज की ही खोज करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "समर्पण है तो वह न बाँधता है, न अपने को बद्ध अनुभव करता है, केवल एक व्यापक कृतज्ञता मन में भर जाती है कि तुम हो, कि मैं हूँ।"[40]

भाषा के प्रति जितने सचेत अज्ञेय हैं, उतना कोई ही कवि होगा।[41] वे शब्द के सार्थक प्रयोग को अपने-आपमें एक सिद्धि मानते हैं।[42] वे शुरू से ही यह महसूस करते रहे हैं कि शब्दों को सही और नया अर्थ प्रदान करने में ही रचना की सबसे बड़ी शक्ति निहित है। 'ये उपमान मैले हो गये हैं' कहकर अज्ञेय ने इसी विचार को व्यक्त किया है। कहना न होगा कि उन्होंने अपनी कविताओं में नये बिम्बों और प्रतीकों की तो सृष्टि की ही है, पुराने बिम्बों और प्रतीकों को भी अपने अनुभव का नया अर्थ दिया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है, "कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीकों की, सृष्टि करता है और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है।"[43] अज्ञेय की कविताओं में जिस तद्भव शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है, वह सीधे जीवन से ली गयी है, इसीलिए यह अत्यन्त सजीव और अर्थपूर्ण है। उसमें जातीय संस्कारों और आदिम जीवन की गन्ध है। अज्ञेय की गद्य कृतियों, विशेषतः प्रथम दो उपन्यासों, में अवश्य ही संस्कृत और अंग्रेजी की शब्दावली का बाहुल्य है किन्तु उस शब्दावली में भी एक गहरा अनुशासन प्राप्त होता है और ऐसा लगता है जैसे लेखक अपनी गहन अनुभूतियों को अधिक-से-अधिक सार्थक शब्द देने के लिए सचेत है। यह सही है कि अज्ञेय की भाषा में इधर एक ठहराव है, जिसका सम्बन्ध उनकी विशिष्ट बौद्धिक दार्शनिक अनुभूति से है, और कथ्य की पुनरावृत्ति से। पर अज्ञेय की कोशिश मितकथन की ही है। चिन्तन के एक छोर पर उन्हें एक सार्थक मौन ही अच्छा लगता है।[44]

मौन भी अभिव्यंजना है
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।[45] —जितना तुम्हारा सच है

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अज्ञेय ने न केवल छायावादोत्तर साहित्य की विविध विधाओं को अपनी रचना से समृद्ध किया है वरन् 'तारसप्तक' और अगले दो सप्तकों की योजना तथा 'प्रतीक' (1947-51 ई.) के प्रकाशन द्वारा नये साहित्य को छायावाद और प्रगतिवाद से अलग एक नयी दिशा देने का प्रयास भी किया है। यद्यपि तारसप्तकों की योजना ने साहित्य का अहित भी कम नहीं किया है और उनके कारण कुछ बड़ी काव्य-प्रतिभाएँ दब गयी हैं तथा कुछ तृतीय श्रेणी की काव्य-प्रतिभाओं को अनावश्यक महत्त्व मिल गया है, पर कुल मिलाकर इन आयोजनों और स्वयं अपनी रचनाओं के द्वारा अज्ञेय ने हिन्दी साहित्य को नवीन रचनात्मक और वैचारिक धरातल की ओर मोड़ने का प्रयास किया है। यह बात याद रखने की है कि उस दौर में, जबकि छायावाद का पतन हो चुका था और कविता के गले पर प्रगतिवाद का फन्दा कड़ा होता जा रहा था, शायद अज्ञेय ने अकेले काव्य-मूल्यों के लिए लड़ाई लड़ी। कविता की भी एक संस्कृति होती है और उस संस्कृति के प्रति अज्ञेय में निष्ठा है, ध्वंस का भाव नहीं। यह सांस्कृतिक गरिमा आधुनिक कवियों में सबसे अधिक प्रसाद में या फिर अज्ञेय में ही है। और कहना न होगा कि यही उनकी कविता को एक खास संसार में सुरक्षित भी करती है।

निस्सन्देह अज्ञेय की कविता स्वातन्त्र्य की खोज में लिखी गयी कविता है—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की खोज में जिसकी व्याख्या उनकी अनेक गद्य कृतियों में की गयी है। इस सम्बन्ध में उनका अपना तर्कशास्त्र भी है। पर कविता का आलोचक यह जरूर कहेगा कि क्या कारण है कि अज्ञेय की कविता 'सागर' नहीं बन पाती, जिसके प्रति उनके मन में इतना अनुराग है ?[46] आधुनिक साहित्य के पाठक को इस बात पर आश्चर्य होता है कि अज्ञेय जहाँ पुरानी पीढ़ी के बीच एक विद्रोही कवि के रूप में जाने जाते हैं वहीं युवा पीढ़ी के बीच उन्हें एक समझौतावादी कवि समझा जाने लगा है। क्या इस अन्तराल में ही कहीं कवि अज्ञेय का रहस्य नहीं छिपा है ?

जैसा कि कहा जा चुका है, अज्ञेय की कविता या कहें कि अज्ञेय के लेखन का विरोध काफी हुआ है। विरोध शक्ति का होता है अतः (उल्टे तर्क से ही सही) यह तो विरोधियों को भी मानना पड़ेगा कि अज्ञेय के लेखन में शक्ति है और उत्तेजना की सामग्री भी। अज्ञेय की 'स्वतन्त्र व्यक्ति की अवधारणा' ही वह बिन्दु है जिसका मार्क्सवादी लेखक बार-बार विरोध करते हैं। कहना न होगा कि यही अवधारणा वह केन्द्र भी है जिससे अज्ञेय बार-बार अपनी रचना के लिए शक्ति ग्रहण करते हैं। वे सारी परिस्थितियों के बीच 'व्यक्ति' को महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं और अब भी मानते हैं—

छोटी ही है, पर, सागर,
मेरी भी एक कहानी है —सागरमुद्रा-12[47]

वे मानते हैं कि कवि वही है जो अपने वनानल में स्वयं ही अनुपल जलता है—

पर कोई बताये
कि क्या कवि
वही नहीं है जिसे पता है
कि मैं ही वह वनानल हूँ
जिसमें मैं ही
अनुपल जलता हूँ ? —नन्दादेवी-10[48]

अपनी इस मान्यता के फलस्वरूप अज्ञेय अनुभव को विशेष महत्त्व देते हैं। उनकी काव्य-भूमि गोचर अनुभवों की भूमि है—

क्या हुआ
अगर मेरी यादों की भूमि
वह (कल्पित) भूमि नहीं है जिसे भाव भूमि कहते हैं, वरन्
वह है जिस पर भावना और कल्पना दोनों टिकते हैं :
गोचर अनुभवों की भूमि ? —घर की याद[49]

कहना न होगा कि अज्ञेय के काव्य में गोचर अनुभवों के चित्र बहुत मिलते हैं—विशेष रूप से प्रकृति के चित्र—

कमल/खिला/दो कुमुद/ मुँदे/ नाल / लहरायी/
सिहरती/ झील/ गहरायी/ कुहासा/ घिर गया/
हंस ने/डैने कुरेदे/ग्रीवा झुला/पल-भर को/
निहारा/विगलता/फिर/तिर गया[50]

× × ×

हाँ, शरद आया
ऊपर
खुली नीली झील—
तिरते बादलों के पाल।
हरे हरसिंगार।
तिनकों से ढले दो-चार
ओस-आँसू-कन।
खिली उजली धूप
नीचे
सिहर आया ताल। —शरद तो आया[51]

प्रकृति के ये चित्र दुर्लभ हैं। वस्तुतः अज्ञेय (अपनी मान्यता के अनुसार ही) विशिष्ट चित्रों को ही अंकित करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "कवि की आँख से देखी जाकर हर सामान्य चीज विशिष्ट हो उठती है।" अज्ञेय के काव्य में पर्वत या गाँव के परिवेश के जो भी चित्र मिलते हैं वे बार-बार दुहराये

गये चित्र नहीं होते। वे अलग से देखे गये निजी और विशिष्ट होते हैं—

पुआल के घेरदार घाघरे
भूल गये पेड़ों पर,
घास के गट्ठे लादे आती हैं
वन कन्याएँ
पैर साधे मेड़ों पर
चला चल डगर पर
नन्दा को निहारते।

तुड़ चुके सेव, धान
गया खलिहानों में,
सुन पड़ती है
आस की गमक एक
गड़रिये की तानों में।
चला चल डगर पर
नन्दा को निहारते।[52]

× × ×

एक ओर पियराते पाकड़
धूप, दूर गाँव की झलक,
खगों की सीटियाँ
बाँसुरी में न जाने किस सपनों की
दुनिया की ललक।
दूसरी ओर बाँज की काई-लदी
बाहों की घनी छाँह,
एक गीला ठिठुरता अँधेरा, दूर
चिहुँकता कहीं काँकड़,
प्रश्न उछालता
लंगूर।[53]

अज्ञेय के काव्य में एक जिज्ञासा है—आगे की, अज्ञात की। वे गति को, काल की निरन्तरता को स्वीकार करते हैं—

सभ्यता गति है
कि हटते जाओ अपने आप
और छोड़ो नहीं
ऐसी कोई छाप
कि दूसरों को अस्वस्तिकर हो[54]

'महावृक्ष के नीचे' (1977 ई.) संग्रह में एक कविता है 'साल-दर-साल'। इस कविता में अज्ञेय ने काल की निरन्तरता को समर्थ ढंग से चित्रित किया

है। इस कविता का अन्त एक आशा में होता है जो अज्ञेय की सर्जनात्मकता के मूल में है। क्योंकि अज्ञेय इन्द्रियों को अनुभव के लिए खुला रखने के पक्षपाती हैं इसीलिए वे अपने भीतर सर्जनात्मक शक्ति को निरन्तर जिन्दा पाते हैं—

अब भी यही सच है
कि अभी एक गीत मुझे और लिखना है।[55]

सन्दर्भ

1. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ. 168
2. कितनी नावों में कितनी बार, पृ. 31
3. पूर्वा, पृ. 125
4. इत्यलम्, पृ. 189
5. हरी घास पर क्षण भर
6. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ. 29
7. आत्मनेपद, पृ. 169
8. आँगन के पार द्वार, पृ. 36
9. हरी घास पर क्षण भर
10. सागर मुद्रा, पृ. 7
11. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ. 48
12. आत्मनेपद, पृ. 43-44
13. शेखर : एक जीवनी—भाग-दो, पृ. 26
14. हरी घास पर क्षण भर
15. शेखर : एक जीवनी—पहला भाग, पृ. 100
16. आत्मनेपद, पृ. 208
17. हरी घास पर क्षण भर
18. शेखर : एक जीवनी—भाग-दो, पृ. 85
19. कितनी नावों में कितनी बार, पृ. 12
20. पूर्वा, पृ. 75
21. इत्यलम्
22. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ. 161
23. हरी घास पर क्षण भर
24. नदी के द्वीप, पृ. 330
25. शेखर : एक जीवनी—भाग दो, पृ. 238
26. आत्मनेपद, पृ. 197-98
27. वही, पृ. 204
28. एक बूंद सहसा उछली
29. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ. 16-17
30. सागर मुद्रा
31. शेखर : एक जीवनी—भाग-दो, पृ. 244

32. वही, पृ. 103
33. इत्यलम्
34. आँगन के पार द्वार
35. आत्मनेपद, पृ. 187
36. वही, पृ. 78
37. एक बूँद सहसा उछली, पृ. 312-13
38. इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये
39. आत्मनेपद, पृ. 202
40. नदी के द्वीप, पृ. 334
41. भवन्ती, पृ. 20, 22
42. आत्मनेपद, पृ. 21
43. वही, पृ. 41
44. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ. 16, आलवाल, पृ. 11-12
45. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
46. भवन्ती, पृ. 109
47. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ, पृ. 27
48. वही, पृ. 69
49. वही, पृ. 50
50. वही, पृ. 71
51. महावृक्ष के नीचे, पृ. 16
52. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ, पृ. 66
53. वही, पृ. 69
54. वही, पृ. 45
55. महावृक्ष के नीचे, पृ. 53

कविता का सौन्दर्यवादी-रूपवादी रुझान

"कला कैलेण्डर की चीज नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज है। जितनी ही अधिक वह उसकी अपनी निजी है, उतनी ही कालान्तर में वह औरों की भी हो सकती है।"[1] शमशेर बहादुर सिंह (1911 ई.) के इस कथन में कला की एक बहुत बड़ी सचाई छिपी हुई है। यह सचाई अर्थात् कला की निजता हमें शमशेर की कविता में भी मिलती है। शमशेर को 'मूड्स' का या 'स्वभाव' का कवि कहा गया है।[2] वैसे तो यह विशेषता हर कवि में देखी जा सकती है पर शमशेर में इसे रेखांकित किया जाता है तो शायद इसीलिए कि उनमें आत्मीयता और निजता अधिक है। बाह्य यथार्थ उनकी कविता में स्वभाव बनकर व्यक्त होता है। परिष्कृत होकर, अत्यन्त स्थिर और तरल होकर—घुलकर। उसमें वह हलचल नहीं मिलती जो कहीं निराला में दिखायी पड़ती है और न वह विक्षोभ जो नये कवियों में। यह ध्यान देने की बात है कि शमशेर की कविता में 'मौन' और 'नींद' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। ये दोनों ही शब्द कवि की शान्त, स्थिर मन:स्थिति को व्यक्त करते हैं :

> किससे लड़ना ?
> रुचि तो है शान्ति,
> स्थिरता,
> काल—क्षण में
> एक सौन्दर्य की
> मौन अमरता।
> अस्थिर क्यों होना
> फिर ?[3]

शमशेर अनुभव को अपने भीतर अधिक गहरे उतारते हैं। उसे शुद्ध करते हैं, सघन बनाते हैं और अपने अस्तित्व के साथ महसूस करते हैं। फल यह होता है कि उनकी भाषा, उनके शब्द, उनका शिल्प—छन्द, लय, बिम्ब,

प्रतीक आदि नये हो जाते हैं :

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गयी हो
स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने[4]

इस प्रकार के नये प्रयोग शमशेर में बहुत हैं। यह 'नयापन' अनुभूति की निजता से पैदा होता है। 'नयापन' सामान्यीकरण नहीं होता। इसीलिए शमशेर की कविता में सामान्यीकरण नहीं है। उसमें अमूर्तन है पर वह मौलिकता और विशिष्टता लिये है। कवि वाह्य संसार की उलझनों को— यथार्थबोध को, अपनी विशिष्ट और सूक्ष्म अनुभूति के बिम्बों में ढालता है। शमशेर की कविता में यह कला-परिष्कार रेखांकित करने योग्य है। रूपतन्त्र या अभिव्यक्ति-शिल्प के प्रति जितने सतर्क वे हैं उतने कम ही कवि होते हैं। मुक्तिबोध ने तो उन्हें शिल्प की दृष्टि से हिन्दी का एक अद्वितीय कवि कहा है।[5] शब्द, उसके संगीत और उसकी लय की सूक्ष्म परख इस कवि के पास है। कहीं-कहीं शब्दों की आवृत्ति एक मोहक लय और गहरा अर्थ पैदा करती है—

ये लहरें घेर लेती हैं
ये लहरें···[6]
× × ×
सब खा गये सब खा गये सब खा गये
वे लोग !
× × ×
दसों दिशाओ की भी दसों दिशाओं की भी···
दसों दि···शा···ओं···
में[7]

कहीं-कहीं शब्द अधिक सूक्ष्म होकर ध्वनि की तरह तैरने लगते हैं। उनमें एक लोच आ जाती है। उनका असर संगीत की तरह सूक्ष्म हो जाता है। यह अनुभूति को अधिक तराशने और निजी बनाने का परिणाम है। इस अधिक तराशने और निजी बनाने के कारण उनकी कविता दुरूहता का भी शिकार होती है जिसका आरोप उनकी कविता पर लगाया गया है। यह आरोप एक हद तक गलत नहीं है। यद्यपि कहीं-कहीं बयानबाजी भी मिलती है फिर भी शमशेर का काव्य सपाटबयानी या कथन का काव्य नहीं

है। वह बिम्बों का काव्य है—

बात बोलेगी
हम नहीं।
भेद खोलेगी
बात ही।

कहा जा चुका है कि शमशेर में शिल्प का आग्रह बहुत है। अमूर्तन अधिक है। इसीलिए कहीं-कहीं उनमें उलझाव और दुरूहता भी है।

शमशेर की चेतना मूलत: एक चित्रकार की चेतना है। मुक्तिबोध के अनुसार शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है।[8] अपनी इस विशेषता को स्वीकार करते हुए एक साक्षात्कार में शमशेर स्वयं कहते हैं, "बचपन से मुझे शौक था चित्रकारी का।···आप यकीन मानिए कि मैं ये फैसला नहीं कर सका मुद्दतों तक, और आज भी मेरे मन में यह सवाल उठता आया है कि मैं साहित्य में रहूँ, साहित्य रचना ही करूँ, कविता ही लिखूँ या चित्र बनाऊँ।···रचना-प्रक्रिया जो चित्र में है, वही रचना-प्रक्रिया कविता में भी आयेगी।···यूरोप के जो चित्रकार थे और जो आन्दोलन अतियथार्थवाद का वहाँ चला था, उसने बहुत गहराई से मुझको प्रभावित किया था और उन रूपों को मैंने अपने ढंग से कविता में पेश करने की कोशिश की।" (साक्षात्कार, अगस्त 1981)। शमशेर वाह्य दुनिया के प्रभावपूर्ण दृश्यों को शब्दों की तूलिका में बाँधते चलते हैं। उनकी चित्रकार दृष्टि रूपाकारों को अंकित करती है। इसीलिए उनकी भाषा में संज्ञापद अधिक हैं। सौन्दर्य उनके चित्रण का मुख्य विषय होता है। 'दूसरा सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में वे कहते हैं, "सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हम पर है, खास तौर से कवियों पर, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनन्त और अपार लीला को कितना अपने अन्दर घुला सकते हैं।" कहना न होगा कि शमशेर ने प्रकृति और मानवीय सौन्दर्य को अपने भीतर बहुत घुलाया है। बादल, पहाड़ और आसमान उनकी कविता में प्राय: आते हैं—

मैं इस
तरह मुस्कराया जैसे शाम के पानी में
डूबते पहाड़ गमगीन मुस्कराते हैं।
× × ×
बादलों के मौन गेरू पंख, संन्यासी, खुले हैं
श्याम पथ पर
स्थिर हुए-से, चल।[9]

रूप और रंग के एक-से-एक चित्र उनकी कविता में मिलेंगे। रंगों पर उनका ध्यान बहुत जाता है। दिन, सन्ध्या, आसमान, बादल के विविध

रंग शमशेर की कविताओं में चमकते हैं—

कत्थई गुलाब
दबाये हुए हैं
नर्म नर्म
केसरिया साँवलापन मानो
शाम की
अंगूरी रेशम की झलक
कोमल कोहरिल
बिजलियों-सी लहराये हुए हैं।[10]

× × ×

दिन
किशमिशी रेशमी गोरा
मुस्कराता
आब
मोतियों की छिपाये अपनी
पाँखड़ियों तले[11]

× × ×

गीली मुलायम लटें
आकाश
साँवलापन रात का गहरा सलोना
स्तनों के बिम्बित उभार लिये
हवा में बादल
सरकते
चले जाते हैं मिटाते हुए
जाने कौन से कवि को···[12]

× × ×

पूरा आसमान का आसमान है
एक इन्द्रधनुषी ताल
नीला साँवला हल्का गुलाबी
बादलों का धुला
पीला धुंआ···[13]

× × ×

सोने के सागर में अहरह
एक नाव है
(नाव वह मेरी है)
सूरज का गोल पाल सन्ध्या के

सागर में अहरह
दोहरा है···
ठहरा है···[14]

× × ×

शाम का बहता हुआ दरिया कहाँ ठहरा !
साँवली पलकें नशीली नींद में जैसे झुकें
चाँदनी से भरी भारी बदलियाँ हैं,
खाब में गीत पेंग लेते हैं
प्रेम की गुइयाँ झुलाती हैं उन्हें :
—उस तरह का गीत, वैसी नींद, वैसी शाम सा है
वह सलोना जिस्म ।[15]

× × ×

सुन्दर ।
उठाओ
निज वक्ष
और—कस—उभर
क्यारी
भरी गेंदा की
स्वर्णारक्त
क्यारी भरी गेंदा की ।[16]

× × ×

हिलते-चमकते बहुत हेर छोटे-बड़े पेड़ मेरे चारों ओर खड़े ।
धूप से उज्ज्वल-नीले आकाश में, घुले आकाश में उज्ज्वल,
वर्षा के बादल ।
मानो रूई की बिखरी-बिखरी छोटी-बड़ी पूनियाँ ।
कभी-कभी धीमी-धीमी साफ मधुर हवा की गूँज ।[17]

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में कवि शमशेर के काव्य की कुछ विशेषताएँ बहुत साफ दीखती हैं--उनकी सौन्दर्यानुभूति, उनकी सूक्ष्म पकड़, उनकी चित्र-कार दृष्टि, उनका रंग बोध, उनकी ऐन्द्रिकता और उनकी रोमैण्टिक संवेदना। प्रकृति-चित्रों के साथ वे नारी के रूप-रंग को, उसके सलोने जिस्म को घुला-मिला देते हैं। प्रकृति का वस्तुपरक चित्रण शमशेर ने बहुत कम किया है। वे प्रायः प्रकृति का प्रभावात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं और उसमें भी अपना अवसाद, अपनी पीड़ा, अपनी आकांक्षा, अपनी प्रणयवासना आदि मिला देते हैं। फल यह होता है कि कुछ कविताओं में रोमैण्टिक प्रभाव बहुत तीखा हो जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रूमानी भावुकता शमशेर में कम नहीं है। उनकी कविता में खासी संख्या रोमैण्टिक

कविताओं की भी है।

ऊपर कहा गया है कि शमशेर की कविता में रूपवादी रोमैण्टिक रुझान बहुत है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि शमशेर एक भावुक, कल्पनाशील कवि हैं। उनकी कविता में वस्तुपरक सामाजिक चेतना भी पर्याप्त है। 'कुछ और कविताएँ' की भूमिका में वे लिखते हैं, "कवि का कर्म अपनी भावनाओं में, अपनी प्रेरणाओं में, अपने आन्तरिक संस्कारों में, समाज सत्य के मर्म को ढालना—उसमें अपने को पाना है, और उस पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सचाई के साथ व्यक्त करना है, जहाँ तक वह कर सकता हो।" तात्पर्य यह कि शमशेर समाज सत्य के मर्म को अपने में और अपने को उसमें पाना चाहते हैं। यह आतमपरकता और वस्तुपरकता साथ-साथ उनकी कविता में दिखायी पड़ती है। एक ओर वे प्रणय-जीवन के कोमल चित्र प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरी ओर मध्यवर्गीय किसान-मजदूरों के जीवन-चित्र। एक ओर उनमें सौन्दर्यवादी-रूपवादी रुझान है तो दूसरी ओर उन पर मार्क्सवादी-प्रगतिवादी प्रभाव। एक ओर उनमें प्रेमाकुलता, निराशा और अवसाद है तो दूसरी ओर मामूली आदमी के प्रति सहानुभूति। एक ओर यदि विगलन है तो दूसरी ओर विद्रोह। एक ओर व्यक्तिनिष्ठता है तो दूसरी ओर सामाजिक दायित्व की भावना। एक ओर वे पन्त, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अज्ञेय को पसन्द करते हैं तो दूसरी ओर निराला, नागार्जुन और मुक्तिबोध को। कहना न होगा कि ये दोनों ही वर्गों के कवि अलग-अलग काव्य-स्वभाव वाले हैं। दोनों विरोधी प्रवृत्तियाँ शमशेर के काव्य में एक साथ दिखायी पड़ती हैं। वे कला के संघर्ष और समाज के संघर्ष को एक साथ रखकर देखते हैं। 'दूसरा सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में वे कहते हैं, "अपने चारों तरफ की जिन्दगी में दिलचस्पी लेना, उसको ठीक-ठीक यानी वैज्ञानिक आधार पर (मेरे नजदीक यह वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है) समझना और अनुभूति और अपने अनुभव को इसी समझ और जानकारी से सुलझाकर स्पष्ट करके, पुष्ट करके अपनी कला-भावना को जगाना। यह आधार इस युग के हर सच्चे और ईमानदार कलाकार के लिए बेहद जरूरी है। इस तरह अपनी कला-चेतना को जगाना और उसकी मदद से जीवन की सचाई और सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव-से-सजीव रूप देते जाना : इसी को मैं 'साधना' समझता हूँ। और इसी में कलाकार का संघर्ष छिपा हुआ देखता हूँ।" तात्पर्य यह कि शमशेर अपनी कविता के लिए जीवन की सचाई और सौन्दर्य तथा कला-चेतना दोनों को समान महत्त्व देते हैं। ऊपर कई ऐसे काव्यांश उद्धृत हैं जिनसे उनकी कला-चेतना का पता लगता है। इनके साथ ही शमशेर ने ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्रित हुआ है, जो साम्यवादी विचारों को व्यक्त करती हैं या समसामयिक घटनाओं से प्रभावित होकर लिखी

गयी हैं। 'य शाम है,' 'एक प्रभातफेरी,' 'अकाल,' 'रुद्रदत्त भारद्वाज की शहादत की पहली वर्षी पर' आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं। इन कविताओं से कुछ अंश उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

य' शाम है
कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का।
लपक उठीं लहू-भरी दरातियाँ
—कि आग है :
धुआँ-धुआँ
सुलग रहा
गवालियार के मजूर का हृदय।
× × ×
गरीब के हृदय
टँगे हुए
कि रोटियाँ लिये हुए निशान
लाल
जा रहे
कि चल रहा
लहू भरे गवालियार के बाजार में जलूस :
जल रहा
धुआँ धुआँ
गवालियार के मजूर का हृदय।[18]
× × ×
फिर वह एक हिलोर उठी—
गाओ !
वह मजदूर किसानों के स्वर कठिन हठी !
कवि हे, उनमें अपना हृदय मिलाओ !
उनके मिट्टी के तन में है अधिक जाग,
है अधिक ताप :
उसमें, कवि, हे
अपने विरह-मिलन के पाप जलाओ !
काट बूर्जआ भावों की गुमठी को—
गाओ ![10]

इस प्रकार की और कविताएँ भी शमशेर ने लिखी हैं पर उनकी संख्या कम है। कहा जा सकता है कि अपने वक्तव्यों में उन्होंने मार्क्सवाद और प्रगतिवाद का जितना समर्थन किया है उतना समर्थन उनकी कविताएँ नहीं करतीं। उनकी कविताओं की कोमल शब्दावली हिंसक क्रान्ति या संघर्ष को व्यक्त

नहीं करती। इसी प्रकार शमशेर की शब्दावली निम्न मध्यवर्गीय जीवन या लोकजीवन को चित्रित करनेवाली शब्दावली नहीं है। इस सन्दर्भ में नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की भाषा के सामने शमशेर की भाषा को रखकर तुलना की जाय तो स्थिति स्पष्ट हो जायेगी। उनकी अधिकांश कविताएँ उनकी सौन्दर्यवादी रुझान को ही व्यक्त करती हैं। जिन्दगी में शमशेर की दिलचस्पी है, वे मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को चित्रित करते हैं, उन पर मार्क्सवादी प्रभाव है—इससे इनकार नहीं किया जा सकता। पर यह कहना अधिक सच होगा कि शमशेर की कला-चेतना अधिक परिष्कृत है। वे अभिव्यक्ति शिल्प के प्रति अधिक जागरूक हैं। उनकी सौन्दर्यवादी रुझान अधिक तीव्र है।

शमशेर की कविता में मितकथन एक खास विशेषता है। अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं, "कला उसे कहते हैं जिसमें कम-से-कम उपादानों के साथ अधिक-से-अधिक प्रभाव पैदा किये जा सके। शब्द कम हों। चित्र हैं तो रेखाएँ कम हों, रंगों का बहुत उपयोग न किया गया हो, मगर जो प्रभाव चाहिए वो उतने में पूरा अधिक से अधिक हो। ये यानी एक सूत्र मेरे मन में बैठा रहा है हमेशा—कि अधिक शब्द हों तो उसे और कम करो, और हों और भी कम करो।" (साक्षात्कार, अगस्त 1981)। शमशेर कम-से-कम शब्दों में अपनी बात कहते हैं। फालतू शब्द बहुत ही कम मिलेंगे उनकी कविता में। शमशेर उर्दू के काव्यानुशासन से पूरी तरह वाकिफ हैं। उर्दू कविता के वाक्य-विन्यास का कसाव उनकी कविताओं में मिलता है। ग़ालिब की सांकेतिकता का गहरा प्रभाव उनकी कविता पर पड़ा है। शमशेर ने खुद भी हिन्दी में अच्छी ग़ज़लें लिखी हैं जिन पर मीर और ग़ालिब का विशेष प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। लेकिन इसके साथ ही शमशेर पर उर्दू कविता की नाजुकी और चमत्कार का भी प्रभाव देखा जा सकता है—

> आह, तुम्हारे दाँतों से जो दूब के तिनके की नोक
> उस पिकनिक में चिपकी रह गयी थी
> आज तक मेरी नींद में गड़ती है।[20]

शमशेर की कविता पर पन्त की कोमल शब्दावली और उत्तरछायावादी काव्य-बोध का प्रभाव भी देखा जा सकता है। निराला की काव्य-भाषा और नाटकीय शैली का प्रभाव भी उन पर है लेकिन निराला में जो ओज है वह शमशेर में नहीं मिलेगा। निराला और मुक्तिबोध की काव्य-रचना-प्रक्रिया से शमशेर की रचना-प्रक्रिया भिन्न है। निराला की समासशैली और मुक्तिबोध का लम्बा खिंचता तनाव—दोनों ही उनमें नहीं है। शमशेर की कविताएँ लिरिक की तरह छोटी और अनुभूति के एक खास क्षण की कविताएँ हैं—

सूना सूना पथ है, उदास झरना
एक धुँधली बादल रेखा पर टिका हुआ
आसमान
जहाँ वह काली युवती
हँसी थी।

यह ध्यान देने की बात है कि शमशेर ने बहुत-सी कविताएँ किन्हीं चित्रों को देखकर या किसी का संगीत सुनकर या किसी के व्यक्तित्व से अभिभूत होकर लिखी हैं। 'पिकासोई कला', 'गोया वो…', 'रोमसागर के बीचो-बीच', 'विजयसोनी के चित्र', 'एकस्टिल लाइफ', 'अनिल चौधरी के चित्र', 'फानगौंग का एक चित्र', 'असम्भव', 'एकविदा', 'रावल गोस्वामी के चित्र', 'प्रभाकर माचवे', 'शोभा'—इतनी कविताएँ तो एक ही संग्रह में हैं।[21] इस तरह की कविताएँ पर्याप्त संख्या में अन्य संग्रहों में भी हैं। ऐसा लगता है शमशेर का कवि-मन किन्हीं खास रूपाकारों को देखकर उद्वेलित होता है और फिर उसे एक सृजन की जमीन मिल जाती है। यह देखा गया रूप, रंग या महसूस की गयी ध्वनि लय अनुभूति के किन्हीं गहन क्षणों को दीप्त करने में अधिक समर्थ होती है। शमशेर उन अनुभूति क्षणों को अपने मौन से—अन्तराल से, और भी अर्थवान बनाते हैं। उनके वाक्य-विन्यास में अन्तरालों का बड़ा महत्त्व है—

मैं तो खैर…
मेरी जमीन भी क्या
एक दिन
एक दिन…
खैर!
जो नियम है वह नियम है।
जो नियम है वह—है।[22]
× × ×
यह सड़क बियाबान है
यह घरों की कतार कोई सूना-सा जंगल
मैं यहाँ हूँ कौन
वह मुझे नहीं देख रहा है या शायद
बहुत अच्छी तरह जाने हुए हो कि
यहाँ कोई है[23]

इस प्रकार के प्रयोगों से वे अपनी अभिव्यक्ति को अधिक समर्थ बनाने की कोशिशें करते हैं। शिल्प-प्रयोगों के लिए नये कवियों में शमशेर की कविता उल्लेखनीय है। कहना न होगा कि इन प्रयोगों के मूल में उनकी सौन्दर्य-वादी-रूपवादी रुझान ही प्रमुख है।

सन्दर्भ

1. कुछ और कविताएँ, भूमिका
2. दे., शमशेर : सं., सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : मलयज, पृ. 40; दे., समानान्तर : रमेशचन्द्र शाह, पृ. 133
3. कुछ कविताएँ, पृ. 64
4. वही, पृ. 15
5. शमशेर, पृ. 11
6. कुछ और कविताएँ, पृ. 71
7. चुका भी हूँ नहीं मैं, पृ. 70
8. शमशेर, पृ. 12
9. इतने पास अपने, पृ. 15
10. वही, पृ. 17
11. कुछ कविताएँ, पृ. 38
12. वही, पृ. 40
13. वही, पृ. 41
14. वही, पृ. 44
15. वही, पृ. 56
16. दूसरा सप्तक, पृ. 88
17. चुका भी हूँ नहीं मैं, पृ. 77
18. कुछ कविताएँ, पृ. 32-33
19. चुका भी हूँ नहीं मैं, पृ. 46
20. कुछ और कविताएँ
21. दे., इतने पास अपने
22. इतने पास अपने, पृ. 21
23. वही, पृ. 53

भीतरी और बाहरी संघर्ष का काव्य

> पिस गया वह भीतरी/औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच/ऐसी ट्रेजेडी है नीच ।।
> —चाँद का मुँह टेढ़ा है

यह भीतरी और बाहरी संघर्ष मुक्तिबोध के काव्य की सही जमीन है। वे गहन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों और तीखे सामाजिक अनुभवों के कवि हैं। मुक्तिबोध की कविता में जिस शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है वह शब्द है 'अँधेरा'। 'अँधेरे' से मिलते-जुलते बहुत-से अन्य शब्द भी हैं जैसे 'स्याह', 'काला', 'श्याम', 'साँवला', 'रात', 'तम-अन्तराल', 'तिमिर' आदि—

> सुनसान चौराहा साँवला फैला/बीच में वीरान गेरुआ घण्टाघर/
> ऊपर कत्थई बुजुर्ग गुम्बद/साँवली हवाओं में काल टहलता है।
> —वही, पृ. 265

कवि ने कुछ भिन्न रंग के प्रसिद्ध फूलों को भी अपने प्रिय रंग में ही देखा है—

> काले गुलाब व स्याह सिवन्ती / स्याम चमेली / सँवलाये कमल···।
> —वही, पृ. 279

मुक्तिबोध की शायद ही कोई कविता हो जिसमें 'अँधेरा' या 'अँधेरे' से मिलते-जुलते शब्द न प्रयुक्त हुए हों। क्या है यह अँधेरा? कवि के काव्य पर इस तरह हावी क्यों है? यह अँधेरा भीतर और बाहर का अँधेरा है—मन का और मन को बनानेवाली बाह्य परिस्थितियों का—

> भयानक थर-थर है ग्लानिकर सागर में / मुझे गश आता है/
> विलक्षण स्पर्शों की अपरिचित पीड़ा में / परिप्रेक्ष्य गहरा हो/
> तिमिर-दृश्य आता है / ठनकती रहती हैं / आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ,
> बहिः समस्याएँ।
> —वही, पृ. 185

भीतर और बाहर के इसी अँधेरे में कवि मुक्तिबोध ने आत्मरूप की और सत्य की खोज की है। डायरी में कवि लिखता है, 'मुझे लगता है मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं।

सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वयं को ही डर लगता है। इस अथाह काले जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ।'[1] 'मैं' का यह रहस्यमय लोक मुक्तिबोध की कविताओं में बार-बार आता है। गड्ढा, बावड़ी, तालाब, कोठरी, तह, तिलस्मी खोह, अन्तराल-विवर, तम-विवर, अँधेरे की सुरंग गलियाँ, समुद्र-तल की बस्ती जैसे बहुल प्रयोग मन के इसी रहस्यमय लोक की ओर ले जाते हैं—

> चला जा रहा हूँ/सूखे हुए झरने की पथरीली गली में/भयानक गुहाओं में घुसता हूँ काँपकर / मन मार / उतरता हूँ गड्ढों में, खोहों के तले में। —वही, पृ. 222

अपनी कविता में मुक्तिबोध भीतर की ओर बार-बार भागते हैं। 'ज्ञान', 'वीर्य', 'ओज्', 'प्रकाश', 'जहरीली आग', 'स्वर्ण स्फुलिंग', 'अंगारी धूप', 'रत्न विवर', 'विद्युन्मय', 'तेजस्', 'आभ्यन्तर का अग्नि सरोवर', 'अनुभव लोक', अंगारचन्द', 'चिनगारी', 'संवेदना', 'किरण', आदि का बार-बार प्रयोग करते हैं। यह शब्दावली उनके भीतर के सत्य को व्यक्त करती है। वे भीतर के 'मणिरत्न' की चर्चा करते हैं—

> सच, हृदय-रक्त के लाल थाल / में डूबा, गहरे डूबा है / जीवन विवेक/दुर्दान्त ज्ञान का मणि अशोक।
>
> —भूरी भूरी खाक धूल, पृ. 121

मनुष्य की सारी उपलब्धियाँ उसी भीतर के मणि की किरणों की उपलब्धियाँ हैं—

> उस मणि के किरणों ने खोजे/गंगा के, रेवा-क्षिप्रा के/कृष्णा के कूलों के उठान/पर भव्य गूँजते हुए गान।
>
> —वही, पृ. 121

मुक्तिबोध इस भीतर के सत्य को 'आत्मज' सत्य कहते हैं—

> नीला पौधा / यह आत्मज / रक्त-सिंचिता हृदय धरित्री का/ आत्मा के कोमल आलबाल में/यह जवान हो रहा/कि अनुभव-रक्त-ताल में डूबे उसके पदतल / जड़ें ज्ञान-संविधा / की पीतीं अनुभव। —वही, पृ. 68

इस आत्मज सत्य की प्राय: उपेक्षा होती रहती है—

> जीवन के श्यामल खानों से / मणि-रत्न निकले, पर ज्योंही वे प्राप्त हुए / क्षण भर चमके / मानो कि चन्द्रमणि प्रद्योतित/ पर, जाने तुमने कहाँ अटाले में डाला / वे बुझते चले गये आब खोकर/ ऐसा क्यों हुआ ! —वही, पृ. 64

इसीलिए मुक्तिबोध 'क्रियावान वेदना' की चर्चा करते हैं—

> वह क्रियावान वेदना / तुम्हारे चेहरे पर / पोतेगी चिन्ता-भरी अनेकानेक कालिमाएँ / तुम नित्य विचारों को आचारों में

परिणत/करने के हित/नैतिक स्वभाव औ' विश्वभाव में होकर
रत। —वही, पृ. 71

'विचारों को आचारों में परिणत करना' उसी आत्म सत्य को चरितार्थ करना है। यही मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष की एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण दिशा है—विचार और कर्म का द्वन्द्व। रचनाकर्म बनाम नागरिककर्म। मुक्तिबोध के अपराध-बोध को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है। और इसी सन्दर्भ में उस परम अभिव्यक्ति की बेचैनी भी समझी जा सकती है जो मुक्तिबोध के भीतर है। बेचैनी अपने अनुभव सत्य को जन तक पहुँचाने की—

तब हम भी अपने अनुभव के/सारांशों को उन तक पहुँचाते हैं
जिसमें/जिस पहुँचाने के द्वारा हम, सब साथी मिल/दण्डक वन
में से लंका का पथ खोज निकाल सकें। —वही, पृ. 176

अपने अनुपस्थित पाठक को सम्बोधित करते हुए मुक्तिबोध ने जो अपनी कविता का विश्लेषण किया है उसमें उनके आत्मसंघर्ष की वह दिशा स्पष्ट है जिसका संकेत ऊपर किया गया है—

द्वन्द्व स्थिति में स्थापित यह/मेरा वजनदार लोहा / उन भयंकर
अग्नि क्रियाओं में/तेज ढकेला जाकर/पिघलते हुए दमकते हुए/
तेजपुंज गहन अनुभव का छोटा-सा दोहा बनता है।···/मैंने
चोरी-चोरी भीतर का रेडियम सँभाल रखा है / आज अकेले
उसी एक कोने में तुमको पाने, / ले जाने के लिए / तुम्हारे घर
आया हूँ/ओ मेरे प्रिय पात्र! —वही, पृ. 47-48

मुक्तिबोध शायद भीतर के गुहान्धकार में, मन के खोहों में बार-बार इसलिए ले जाते हैं कि वे अपने असली रूप का—नंगी सचाइयों का साक्षात्कार करना चाहते हैं। भीतर को, कवि ने, जीवन-शक्ति का रूप माना है। वह उसमें उन चमकदार रत्नों को प्राप्त करना चाहता है जिनका उपयोग आत्म और जन के लिए सार्थक है—

भूमि की सतहों के बहुत-बहुत नीचे/अँधियारी एकान्त/प्राकृत
गुहा एक/विस्तृत खोह के साँवले तल में/तिमिर को भेदकर
चमकते हैं पत्थर / मणि तेज सक्रिय रेडियोऐक्टिव रत्न भी
बिखरे, —चाँ. मुं. टे., पृ. 264

विभोर आँखों से देखता हूँ उनको/पाता हूँ अकस्मात्/दीप्ति में
वलयित रत्न वे नहीं हैं/अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष/मेरे ही
अपने यहाँ पड़े हुए हैं/······/हाय, हाय मैंने उन्हें गुहा-वास दे
दिया/लोक-हित क्षेत्र से कर दिया वंचित। —वही, पृ. 265

'हाय, हाय' शब्द का प्रयोग कवि के पश्चात्ताप को व्यक्त करता है। इस

प्रकार के प्रयोग कवि के काव्य में बहुत मिलते हैं और अपने जीवन को निष्क्रिय या तलघर बना देने का दुख भी—

भूतों की शादी में कनात से तन गये/किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर,/··· ··· ···/जम गये/जाम हुए, फँस गये, अपने ही कीचड़ में धँस गये / विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में/ आदर्श खा गये। / अब तक क्या किया, / जीवन क्या जिया,/ ज्यादा लिया / और दिया बहुत-बहुत कम / मर गया देश, अरे, जीवित/रह गये तुम। —वही, पृ. 261

कभी कवि को महसूस होता है कि उसी की निष्क्रियता इस मार्शल लॉ का कारण है—

मानो मेरे कारण ही लग गया / मार्शल लॉ वह, / मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया, —वही, पृ. 262

कभी उसे लगता है कि इस दस्यु पराक्रम में उसका भी अंशदान है—

दस्यु-पराक्रम/शोषण-पाप का परम्पराक्रम/वक्षासीन है,/जिसके होने में गहन अंशदान/स्वयं तुम्हारा, —वही, पृ. 241-242

कवि अपने इन अपराधों को सचेत होकर टटोलता है—

अचानक जाने किस चेतना में डूब / उर में समाये हुए अपने तलातल/टटोलता हूँ······ / क्या कहीं मेरा अपराध ? / मेरा अपराध ? —वही, पृ. 219

आखिरकार कवि का अपराध क्या है ? उसका अपराध यही है कि वह जो 'है' वैसा दीखता नहीं और जैसे 'भोगता' है वैसी प्रतिक्रिया नहीं करता—

तुम देख नहीं पाये उदार ज्वालाओं के सन्दर्भ / निज अंश सत्य की खण्ड-प्रतीति सहारे से / पहुँचे उजाड़ सुनसान कगारों पार/ अपना सब कुछ हारकर / तुम देख नहीं पाये— जीवन की भव्य चमत्कृतियाँ। —भू. भू. खा. धू., पृ. 45

उदित हुआ सूर्य लाल, डूब गया/चन्द्र व नक्षत्र आये, चले गये/ ··· ··· ···/व्यथाएँ उभरीं खूब, डूब गयीं/निराकार आदर्श दशाएँ किन्तु/खड़ी रहीं मुँह बाये। —वही, पृ. 83

हृदय में उगते रहे अंकुर/फूल खिले, फल लगे, बीज/फैले/फिर प्रशाखाएँ फैल गयीं।/मैंने समझदारी की/घबराये हुए तब तेज-धार छुरी से जिन्दगी के छोटे-छोटे सुकुमार/मेमनों की तुरत जिबह की/रँग गये, तर हुए मेरे हाथ/अपने ही खून से।

—वही, पृ. 105

कवि की बैचेनी यह है कि वह 'दिल के सुनहले तीर' को बाहर क्यों नहीं फेंक पाता (भूरी भूरी खाक धूल, पृ. 95)। उसका अपराध यही है

कि उसने जो अवसर मिला उसे खो दिया। वह कायरता और साहस के बीच जिन्दा रहा (वही, पृ. 13)। इसीलिए अपनी कविताओं में वह बार-बार आत्मभर्त्सना करता है। सम्भव है यह भर्त्सना स्वयं कवि के लिए न हो लेकिन 'उपजाऊ हृदय को मारने का दुखान्त' (वही, पृ. 106) उसकी कविताओं में इतनी बार उभरता है कि स्वयं कवि पर सन्देह होने लगता है—क्या वह किसी अपराध-बोध से ग्रस्त है ? क्या उसने कोई गहरा घात किया है ? क्या वह पलायनवादी है ? 'भाग गयी जीप' कविता में मुक्तिबोध आत्मनिन्दा के स्वर को गलत बताते हुए एक दूसरा ही पक्ष लेते हैं। होता यह है कि बस छूट जाती है और कुछ लोग बढ़ जाते हैं। यह बस सुविधाओं की बस है और उसके मुसाफिर आज के अवसरवादी सुविधा-जीवी लोग हैं जो 'बस में ही ठुँस जाने को जिन्दगी की जीत' मानते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं—

> तुममें कुछ / अच्छाई शेष थी/इसीलिए घबरा गये/बस न पकड़ सके/··· ··· ···/बहुत अच्छा हुआ यह प्राणों में हमारे समा-सीन पूर्ण तुम/समय के मारे तुम/केवल हमारे हो/केवल हमारे हो। —वही, पृ. 21-22

यहाँ मुक्तिबोध का पक्ष स्पष्ट है। वे सुविधाजीवियों की जमात में शामिल होकर अपने वर्ग से अलग होना नहीं चाहते। 'कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध उन लोगों को कड़ा जवाब देते हैं जो सिर्फ सफलता की आँख से दुनिया को निहारते हैं। जो सफलता प्राप्त करने के लिए घुग्घू या सियार या भूत बन जाते हैं। इस कविता में मुक्तिबोध तथा-कथित सफलता पाने के लिए बेचैन उन बुद्धिजीवियों को ललकारते हैं जो सामाजिक महत्त्व की गिलौरियाँ खाते हुए, असत्य की कुर्सी पर आराम से बैठे हुए, मनुष्य की त्वचा का ओवरकोट पहने बन्दरों व रीछों के सामने नयी-नयी अदाओं में नाचते हैं—

> राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य / बड़े-बड़े मसीहा/सरकस के जोकर-से रिझाते हैं निरन्तर/नाचते हैं, कूदते हैं / शोषण में सिद्धहस्त स्वामियों के सामने / ··· ··· ···/ चुपचाप आदर्शों को बाजू रख या भूलकर अवसरवादी बुद्धि-मत्ता ग्रहण कर / औ' जिन्दगी को भूलकर/बिल्कुल बिक जाते हैं। —वही, पृ. 205

इन यशलोभी बुद्धिजीवियों को मुक्तिबोध ने 'अवसरवादी', 'पूँजीवादी उल्लू का साहित्यिक पट्ठा', 'मध्यवर्गी बुद्धिशील अवसरवादी केकड़ा' आदि (भूरी भूरी खाक धूल, पृ. 196-198) कहा है। वे इन्हें वर्गशत्रु भी कहते हैं क्योंकि वे उस सभ्यता का जाने-अनजाने समर्थन करते हैं जिसकी मृत्यु अनिवार्य है। ये क्योंकि उनके अपने ही वर्ग के हैं अतः भयानक शत्रु हैं

(वही, पृ. 34)। मुक्तिबोध अपने को इनसे अलग करते हैं क्योंकि उनकी पूँजी दूसरी है—

> तुम्हारे पास, हमारे पास/सिर्फ एक चीज है/ईमान का डण्डा है/बुद्धि का बल्लम है/अभय की गैती है/हृदय की तगारी है—तसला है/नये-नये बनाने के लिए भवन/आत्मा के मनुष्य के।
>
> —वही, पृ. 138

मुक्तिबोध स्पष्ट रूप से अपने को उस वर्ग से अलग करते हैं लेकिन उनकी कविताओं में इतनी बार मध्यवर्गीय नपुंसक मानवों और अवसरवादी बुद्धिजीवियों का बयान होता है कि कभी-कभी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन पर ही सन्देह होने लगता है। कहीं सुविधा को प्राप्त करने और सुविधा को छोड़ने का यह संघर्ष उनके भीतर भी तो नहीं चल रहा है? यह भी उनके भयावह आत्मसंघर्ष का एक कारण हो सकता है।

मुक्तिबोध भीतर के गुहान्धकार में इसीलिए स्वयं घुसते और पाठकों को ले जाते हैं कि वह अपने असली रूप का साक्षात्कार कर और करा सकें। इसे यदि रामविलास शर्मा कवि का रहस्यवाद मान लें तो कवि के साथ ज्यादती है। मुक्तिबोध के काव्य में 'नाभिताल', 'सहस्रदल', 'कैलास', 'कुण्डलिनी', 'नागिनी', 'उन्मानी', 'ब्रह्माण्ड कुँआ', 'अहनद नाद' आदि हठयोग के शब्दों का प्रयोग आत्मसत्य को ही प्राप्त करने के लिए हुआ है। हठयोग की शब्दावली रहस्य की शब्दावली नहीं, साधना और शरीर की शब्दावली है। मुक्तिबोध के ही शब्दों में इस शब्दावली का अर्थ देखिए—

> गहरी आन्तरिक सम्पन्नताओं का/धवल कैलाश/सामान्यीकरण का वह असामान्यीकरण/अनुभूत सत्यों का समन्वित संगठित हिमशिखर/उसके शिला प्रस्तर से/सहस्रों झर रहे रमणीय/शत-निष्कर्ष/शत-निर्झर!!
>
> —वही, पृ. 37-38

> मानव-लक्ष्यों का सहस्र-दल/नयी जिन्दगी का यह सूरज/बिखराता है अग्नि-रत्न-कण/संघर्षों की रक्तिम केशर/जन-जन की गलियों राहों में।
>
> —वही, पृ. 219

मुक्तिबोध की कविता में प्रायः कोई अजनबी आता है—

> आधी रात, इतने अँधेरे में, कौन आया मिलने / विमन प्रतीक्षातुर कुहरे में घिसा हुआ/द्युतिमय मुख—वह प्रेम भरा चेहरा—/भोला-भाला भाव—पहचानता हूँ बाहर जो खड़ा है/यह वही व्यक्ति है, जी हाँ/जो मुझे तिलस्मी खोह में दिखा था/अवसर-अनवसर/प्रकट जो होता ही रहता/मेरी सुविधाओं का न तनिक खयाल कर।
>
> —चाँ. मुँ. टे., पृ. 248

वह कवि को संकेत और प्रेरणा देता है। कहता है—

पार करो पर्वत-सन्धि के गह्वर/रस्सी के पुल पर चलकर/दूर उस शिखर-कगार पर स्वयं ही पहुँचो··· —वही, पृ. 249

कवि उसे छोड़ना नहीं चाहता, पर वह अचानक गायब हो जाता है। वह रहस्यमय व्यक्ति कवि की अब तक न पायी गयी अभिव्यक्ति है। वह उसके परिपूर्ण का आविर्भाव है। हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव है। आत्मा की प्रतिमा है। रात का पक्षी कहता है—

वह चला गया है/वह नहीं आयेगा, आयेगा ही नहीं/अब तेरे द्वार पर।/वह निकल गया है गाँव में शहर में/उसको तू खोज अब/उसका तू शोध कर/वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति,/उसका तू शिष्य है··· —वही, पृ. 251, 252

मुक्तिबोध इसी परम अभिव्यक्ति की खोज करते हैं। अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाकर---

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होंगे।/तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब। --वही, पृ. 280

जहाँ मिल सके मुझे/मेरी वह खोयी हुई/परम अभिव्यक्ति अनिवार/आत्म-सम्भवा। —वही, पृ. 290

यह परम अभिव्यक्ति की खोज भीतर और बाहर के द्वन्द्व को व्यक्त करने की कोशिश है—रचनाकर्म और नागरिककर्म को चरितार्थ करने की बेचैनी। यह कोई अस्मिता की खोज नहीं है जैसा कि नामवर सिंह आरोपित करते हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि मुक्तिबोध के काव्य में कोमल चित्रण या संगीतात्मक शब्दावली का प्रयोग नहीं मिलेगा। भय, आतंक, अनिश्चय, जिज्ञासा, घबराहट और दुश्चिन्ता से मुक्तिबोध का काव्य भरा पड़ा है। लगता है कवि-मन में एक भयानक शंका और असुरक्षा की भावना हमेशा सजग रहती है। 'एकाएक', 'अचानक', 'सहसा', 'इतने में ही' जैसे शब्दों के प्रचुर प्रयोग इस असुरक्षा और आशंका को व्यक्त करते हैं। अपने एक संस्मरण में हरिशंकर परसाई कवि की इस निजी प्रकृति के बारे में लिखते हैं, "सामान्य आदमी का वे एकदम भरोसा करते थे, लेकिन राजनीति और साहित्य के क्षेत्र के आदमी के प्रति शंकालु रहते थे। कोई सहज की उनके समीप होना चाहता या उनकी मदद करना चाहता, तो वे सशंकित हो जाते। कहते, 'पार्टनर इसका इरादा क्या है ?' ज्यों-ज्यों उनकी मुसीबतें बढ़ती गयीं, ज्यादा कड़ुवे अनुभव होते गये, उनके कई विश्वसनीयों का चारित्रिक पतन होता गया, उनकी शंका बढ़ती गयी। वे अपने को असुरक्षित अनुभव करते गये। अन्त के एक-दो साल तो वे अपने चारों तरफ डर के काँटे लगाकर जीते थे। उन्हें लगता—कोई भयंकर षड्यन्त्र चारों तरफ से उन्हें घेर रहा है। यह स्थिति तब बहुत तीव्र हो गयी जब सरकार ने उनकी पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाया।"[2] मुक्तिबोध की इस शंका और

असुरक्षा की मनःस्थिति के पीछे वे सारी परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने निराला को पागल बनाया था। नेमिचन्द्र जैन को सम्बोधित एक पत्र में मुक्तिबोध लिखते हैं, 'परन्तु मेरी आँखों के सामने घर-गिरस्ती को देखकर काले सपने आया करते हैं। मैं वजन सम्हाल नहीं पाता, और हर महीने की बीस तारीख के बाद दिवालियापन सताता रहता है क्रुद्ध प्रेत-सा।'[3] विवाहित जीवन की जिम्मेदारी, आर्थिक अभाव और खाते-पीते समाज की उपेक्षा ने मुक्तिबोध को भयानक तनाव और सन्त्रास की स्थिति में छोड़ दिया था। परसाई लिखते हैं, 'आजकल सन्त्रास का दावा बहुत किया जा रहा है। मगर मुक्तिबोध का एक-चौथाई तनाव भी कोई झेलता तो उनसे आधी उम्र में मर जाता। मृत्यु से दो साल पहले जबलपुर आये थे। रात-भर वे बड़बड़ाते थे। एक रात चीखकर खाट से फर्श पर गिर पड़े। सँभले। तब बताया कि एक बहुत बड़ी छिपकली सिर पर गिर रही थी। उन दिनों उनकी पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' पर प्रतिबन्ध लग चुका था।....'अँधेरे में' कविता का यही रचना-काल है। उन दिनों मुक्तिबोध बहुत आशंकाग्रस्त थे। छोटी-छोटी बात उन्हें विचलित कर देती थी। चाबी जिस जेब में रखी होने की उन्हें याद थी, अगर वह उस जेब में नहीं है तो वे ऐसे सशंकित हो उठते थे, जैसे कोई बड़ा षड्यन्त्र उन्हें घेर रहा है।'[4] मुक्तिबोध की कविताओं में इस प्रकार की आशंकाएँ बार-बार दिखायी पड़ती हैं—

> बियाबान रात/जरूर कहीं होगी आज वारदात/भयानक बात/
>
> —चाँ. मुँ. टे., पृ. 220

> किसी अनपेक्षित/असम्भव घटना का भयानक सन्देह,/अचेतन प्रतीक्षा,/कहीं कोई रेल-एक्सीडेण्ट न हो जाय।/ चिन्ता के गणित अंक/आसमानी स्लेट-पट्टी पर चमकते/खिड़की से दीखते। —वही, पृ. 252-253

जिस तनाव की चर्चा परसाई ने की है वही मुक्तिबोध की कविताओं की चेतना है—

> क्या कहूँ—/मस्तक-कुण्ड में जलती/सत्-चित्-वेदना—सचाई व गलती/मस्तक शिराओं में तनाव दिन-रात।
>
> —वही, पृ. 280

इस तनाव और बेचैनी के बिना मुक्तिबोध जिन्दगी का कोई अर्थ ही नहीं मानते—

> भीतर तनाव हो/विचारों का घाव हो/कि दिल में एक चोट हो/आये दिन ठण्डी इन रगों को/गर्मी की खोज है/वैसे यह जिन्दगी/भोजन है, मौज है। —भू. भू. खा. धू., पृ. 9

इसी तनाव में मुक्तिबोध की कविताएँ बेतहाशा लम्बी होती चली जाती हैं और बात फिर भी पूरी नहीं होती। मुक्तिबोध की उपर्युक्त मानसिक

बुनावट और उसे चारों ओर से घेरनेवाली दुनिया के सन्दर्भ में ही उनकी कविताओं का संसार खुलता है और उनकी बनावट स्पष्ट होती है।

मुक्तिबोध के काव्य में भीतर का अँधेरा जितना ही रहस्यमय है, बाहर का उतना ही भयानक—

> जोर लगा, दरवाजा खोलता/झाँकता हूँ बाहर···/सूनी है राह, अजीब है फैलाव/सर्द अँधेरा।/ढीली आँखों से देखते हैं विश्व/उदास तारे।/··· ···/हवाओं की निःसंग लहरों में काँपती/कुत्तों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज/टकराती रहती सियारों की ध्वनि से।/काँपती हैं दूरियाँ, गूँजते हैं फासले/(बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर) —चाँ. मुँ. टे., पृ. 251

> अखबारी दुनिया का फैलाव,/फँसाव, घिराव, तनाव है सब ओर,/पत्ते न खड़कें, /सेना ने घेर ली हैं सड़कें।
>
> —वही, पृ. 258

मुक्तिबोध के काव्य में यदि एक ओर सुनसान, वीरान, बियाबान सन्नाटा है और थरथराना, काँपना, सिहरना, चीखना जैसे शब्दों का प्रयोग; तो दूसरी ओर उसमें बध, हत्या, दुर्घटना, आग, गोली, रायफल, जलूस, नारा, कर्फ्यू आदि के दहशत-भरे चित्र भी। उनकी कविता संकट का, मृत्यु का हॉरर क्रिएट करती है—

> किसी काले डैश की घनी काली पट्टी हो/आँखों में बँध गयी,/किसी खड़ी पाई की सूली पर मैं टाँग दिया गया,—वही, पृ. 247

मुक्तिबोध के काव्य में व्यक्त उनके मनःसंघर्ष को उनका निजी संघर्ष मान लेने पर कविता की बुनियाद ही ढहने लगेगी। सचाई यह है कि मुक्तिबोध के भयानक आन्तरिक संघर्ष में विक्षोभकारी बाह्य परिस्थितियाँ सक्रिय हैं। इसीलिए उनके काव्य में जितना सन्त्रास है उतना ही विद्रोह। एक ओर जहाँ अँधेरा और काला रंग है वहीं दूसरी ओर अग्नि और रक्त का लाल रंग भी—

> लाल-लाल चादरें,/सिन्दूरी झण्डियाँ,/सुनहरी पताकाएँ फरफरा रही हैं।/और आसमान में/कत्थई गेरुए धुएँ की बड़ी-बड़ी लहरें/तैरती हैं हवा में। —वही, पृ. 225-226
>
> घुसती है लाल-लाल मशाल अजीब-सी,/अन्तराल-विवर के तम में/लाल-लाल कुहरा,/कुहरे में, सामने, रक्तालोक-स्नात पुरुष एक,/रहस्य साक्षात्। —वही, पृ. 246-247
>
> धरती ने खिलाये हैं ज्वलन्त लाल-लाल/नये-नये फूल कैसे लगते हैं आग-भरे/जीवन-सुहाग-भरे!!
>
> —भू. भू. खा. धू., पृ. 218

लाल चिन्ता की रुधिरधारा, किरणों के रक्तमणि, गगन दहन, रक्तिम तितलियाँ, गेरुआ ज्वाला, आभ्यन्तर का अग्नि सरोवर, रत्नविवर, रत्न-मण्डल, द्युति, किरण, चिनगारी, विद्युत तरंग, नवीन मणिसमूह, तीव्र दीप्ति, सर्चलाइट, प्रकाशदीप, तारा आदि शब्दों का प्रयोग किस बात का संकेत करते हैं ? ये अँधेरे के विरुद्ध अपनी आभा का प्रतिनिधित्व करते हैं––

> स्याह समुन्दर के/अतल-तले पड़ा हुआ/किरणीला एक दीप्त/प्रस्तर-युगानुयुग/तिमिर-श्याम सागर के विरुद्ध निज आभा की महत्त्वपूर्ण सत्ता का/प्रतिनिधित्व करता हो, आज भी।
>
> ––चाँ. मुँ. टे., पृ. 175

> भारतीय अँधेरी गहरी-गहरी गलियों में आजकल/सर्दी की भयानक काली-काली रातें हैं/व उनके किनार पर/विद्रोह के जल रहे लाल-लाल/धधकते अंगार।
>
> ––भू. भू. खा. धू., पृ. 187

ऊपर के उद्धरणों में काला और लाल रंग एक ही साथ आया है और विशेषता यह कि लाल रंग काले को दबोचता हुआ-सा है। मुक्तिबोध की रंग-संवेदना बड़ी तीव्र है। वे भूरा, कत्थई, गेरुआ, हरा, नीला, सुनहला, पीला आदि कई रंगों को पकड़ते हैं लेकिन सबसे अधिक काला (यदि इसे रंग माना जाय) और लाल रंग को––

> उस घाटी के नव-क्षितिज-तीर/पर स्तब्ध धधकता हुआ गोल/अंगार-चन्द्र/गम्भीर सत्य वह निर्निमेष कालान्तशील/कालिमा दिगम्बर पट फैला आलोक लाल/रक्तिम संघर्षों के क्षेत्रों पर खिलता है/वह महाबिम्ब/युद्ध-रत लोक-जीवन का वह भीषण प्रतीक/आकुल कराल। ––वही, पृ. 229

यहाँ मुक्तिबोध का प्रतीक स्पष्ट है। लाल रंग क्रान्ति का, विद्रोह का सूचक है। तेज, दीप्ति, उष्णता का बोधक है। यह अन्तर्मन की सचाइयों का, प्रकाश का, और साथ ही युद्धरत लोकजीवन का प्रतीक है। यह इस बात का सबूत है कि मुक्तिबोध अस्तित्ववादी या रहस्यवादी नहीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुक्तिबोध का जीवन अभाव और विफलता का जीवन था। इसे उन्होंने अपनी कविता में झुठलाया नहीं है। डायरी में अपने कल्पित चित्र से वे कहलाते हैं, 'आसमान का चित्रण सधे-न-सधे, सामने के मैले डबरे में सूरज के बिम्ब का चित्रण करना चाहिए, शायद वह मेरे जीवन-सत्य के अधिक निकट होगा। उतना चित्रण मुझसे सध भी जायेगा।'[5] पर इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तिबोध सन्त्रास और कुण्ठाओं के कवि हैं। डायरी में ही वे अपने कल्पित चित्र से कहलवाते हैं, 'कुण्ठा का आधिपत्य

तो तब समझना चाहिए, जब कुण्ठा के बुनियादी कारणों को दूर करने की बेसब्री और विक्षोभ न हो।'[6] कहना न होगा कि यह विक्षोभ और बेचैनी मुक्तिबोध की कविता में अधिकतम है--

क्या करूँ, किससे कहूँ/कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन ?

--चाँ. मुँ. टे., पृ. 261

मुक्तिबोध भीतर के गुहान्धकार की ओर जाते हैं--और खूब जाते हैं, पर वे वस्तु-जगत से पलायन नहीं करते। वे ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा करते हैं, 'इसीलिए फैंटेसी में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाएँ रहती हैं।...मतलब यह कि भोक्तत्व और दर्शकत्व का द्वन्द्व एक समन्वय में लीन होकर एक-दूसरे के गुणों का आदान-प्रदान करता हुआ सृजन-प्रक्रिया आगे बढ़ा देता है। दर्शक का ज्ञान और भोक्ता की संवेदना परस्पर लीन होकर अपने से परे उतने की भंगिमा को प्रोत्साहित करती रहती है।'[7] यह ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान व्यक्ति-चेतना और वस्तु-सत्य दोनों का सामंजस्य है—व्यक्ति और परिवेश का सम्मिलित रूप है। अन्दर और बाह्य की यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में चलती रहती है—

जितना ही तीव्र, है द्वन्द्व क्रियाओं घटनाओं का/बाहरी दुनिया में,/ उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में,/ चलता है द्वन्द्व कि/ फिक्र से फिक्र लगी हुई है। —चाँ. मुँ. टे., पृ. 262

डायरी में कवि ने इस आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का विश्लेषण किया है, 'भाव या विचार का एक वस्तुतत्त्व भी होता है अर्थात् वह एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो किसी वस्तुतत्त्व के प्रति की गयी है। इस मानसिक प्रतिक्रिया में सत्यत्व तो तभी उत्पन्न होगा जब उसमें वस्तुतत्त्व का वस्तुमूलक आविर्भाव हो। साथ ही उसमें यह बोध भी सम्मिलित हो कि जो मानसिक प्रतिक्रिया उस वस्तुतत्त्व के प्रति हुई है, वह सही है या गलत, उचित है या अनुचित, ठीक अनुपात में है कि गलत अनुपात में।'[8] मुक्तिबोध के अनुसार, व्यक्तिगत ईमानदारी का अर्थ सब्जेक्टिव चिन्तन नहीं है। भावना का ज्ञानात्मक आधार जब तक वस्तुतः शुद्ध है तभी तक वह भावना फ्रॉड नहीं है।[9]

ज्वलन्त अनुभव / ऐसे कि विद्युत धाराएँ झकझोर / ज्ञान को वेदन-रूप में लहराएँ/ ज्ञान की पीड़ा/रुधिर प्रवाहों की गतियों में परिणत होकर/अन्तःकरण को व्याकुल कर दे।

—चाँ. मुँ. टे., पृ. 237-38

मुक्तिबोध के काव्य की नियति मानव-नियति से जुड़ी हुई है। वह भागता नहीं, मनुष्य के कटु, भयानक हालात का साक्षात्कार करता है। अशोक वाजपेयी ने उसे 'भयानक खबर' की कविता कहा है। आप चाहें तो उसे

'भयानक सच' की कविता कह सकते हैं—

> भयानक दंगा है/भीतर हिस्सों में तेज,/फेंककर मारी जाती कुरसियाँ/माथों को तोड़ती हैं मेज,/विधानों की अन्तःसभाओं में/वारदातें सनसनीखेज। —वही, पृ. 234

> भवन के सातवें तल्ले पर कुछ लोग/दुनिया की आत्मा की चीर-फाड़/करने के बाद ही/टेबल पर बहती हुई लोहू की धार में/उँगलियाँ डुबोकर/खून की लकीरों से/देश-विदेशों की नयी-नयी/खूनी लाल खूनी लाल/सरहदें-सीमाएँ बनाते ही जाते हैं।
>
> —भू. भू. खा. धू., पृ. 70

> लोहे के बूटों की टापें गूँजने लगीं/अम्बर के हाथ-पैर फूले/काल की जड़ें सूजने लगीं/झाड़ों की दाढ़ी में फन्दे झूलने लगे/गलियों-गलियों में हुई मौत की गश्त शुरू/ पागल आँखें सपने-सियाह बदमस्त शुरू। —वही, पृ. 174

कहा जाता है कि सत्य कल्पना से अधिक विचित्र होता है। कल्पना से भी विचित्र इस भयानक सच का साक्षात्कार मुक्तिबोध ने फैंटेसी के माध्यम से किया है—

> मैं विचरण करता-सा हूँ एक फैण्टेसी में/यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी। —चाँ. मुँ. टे., पृ. 115

मुक्तिबोध का कहना था कि यथार्थ की कलात्मक परिणति फैंटेसी में ही होती है—वह इतना भयानक होता है कि फैंटेसी के रूप में ही उसे देखा जा सकता है। डायरी में मुक्तिबोध लिखते हैं, 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया का परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।[10]

फैंटेसी में मुक्तिबोध को कम-से-कम शब्दों में गतिशील जटिल यथार्थ को चित्रित करने का अवसर मिल गया है। इनके बौद्धिक मनोवैज्ञानिक ऊहापोह के लिए फैंटेसी जरूरी थी। सीधे-सीधे या गद्य में कोई बात कहने के लिए चीजों की क्रमबद्धता पर ध्यान देना पड़ता है पर फैंटेसी में वह जरूरी नहीं होता। उसमें बहुत सारी परस्पर विरोधी और अतार्किक चीजें एक साथ जुट जाती हैं। इसे मुक्तिबोध ने डायरी में एक बँगले का रूपक देकर समझाया है।[11]

मुक्तिबोध की कविता में मानव-संसार के बिम्ब अधिक हैं। यह कवि

का मानव-संसार में दिलचस्पी के कारण, समाज और यथार्थ के प्रति सजगता के कारण है। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि छायावादियों या अज्ञेय के काव्य में प्राकृतिक संसार के बिम्ब अधिक हैं। मुक्तिबोध में प्राकृतिक संसार है भी तो बरगद, समुद्र, कमल और काँटों के रूप में। मुक्तिबोध की कविता में प्रायः एक विराटकाय रहस्यमय पुरुष दीख जाया करता है—

> जिन्दगी के···/कमरों में अँधेरे / लगाता है चक्कर / कोई एक लगातार,/··· ··· ··· / इतने में अकस्मात् गिरते हैं भीतर से/फूले हुए पलिस्तर / गिरती है चूने-भरी रेत/सिसकती हैं पपड़ियाँ इस तरह—/खुद-ब-खुद/कोई बड़ा चेहरा बन जाता है,
>
> —चाँ. मुँ. टे., पृ. 245-246

मुक्तिबोध की अन्य कविताओं में भी इसी प्रकार के चेहरे आते हैं—

> कि इतने में, इतने में/झलक-झलक उठती हैं/जल-अन्तर में से ही कठोर मुख आकृतियाँ/भयावने चेहरे कुछ, लहरों के नीचे से।
>
> —वही, पृ. 172-173

ये चेहरे प्रायः रक्तस्नात होते हैं—

> भव्य ललाट की नासिका में से/बह रहा खून न जाने कब से/ लाल-लाल गरमीला एक रक्त टपकता/ (खून के धब्बों से भरा अँगरखा)।
>
> —वही, पृ. 268

शमशेर के शब्दों में, 'मुक्तिबोध युग के उस चेहरे की तलाश करते हैं जो आज के इतिहास के मलबे के नीचे दब गया है, मगर मर नहीं गया है (वही, पृ. 23)। 'अँधेरे में' में जिस काव्यनायक का चेहरा दिखायी पड़ता है वह युग का ही चेहरा है—सम्पूर्ण बाह्य जगत का—बेचैन, क्षत-विक्षत परिवेश का। 'इस नगरी में' शीर्षक अपनी लम्बी कविता में मुक्तिबोध उस परिवेश का भयावह चित्र खींचते हैं जिसके बीच जी रहे हैं। इस नगरी में न चाँद है, न सूर्य। साजिश के कुहरे में डूबी हुई ब्रह्मराक्षसों की छायाएँ हैं। गांधीजी की चप्पल पहने हुए फौजी बूटें गूँज रही हैं। किले-कंगूरों पर स्वार्थों के लंगूर बैठे हुए हैं। अच्छे-अच्छे लोग शैतानों के झबरे बच्चे बन चुके हैं। इस नगरी की अँधियारी गलियों में जहरीले स्वार्थों की काना-फूसी चल रही है (भूरी भूरी खाक धूल, पृ. 160-170)। 'सूरज के वंशधर' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध बीसवीं सदी के जिस हिन्दुस्तान का चित्र खींचते हैं वह और भी भयानक है। शोषण के भयानक जबड़ों ने झोपड़ियाँ गिरा दी हैं। मनुष्य की जिन्दगी धुनी हुई रूई की तरह उड़ती है। टोकरियों में बच्चे बिलख रहे हैं—

> सूखी हुई जाँघों की लम्बी-लम्बी अस्थियाँ/हिलाता हुआ चलता है/लँगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान/रास्ते पर बिखरे हुए/

चावल के दानों को बीनता है लपककर/मेरा साँवला इकहरा हिन्दुस्तान। —भू. भू. खा. धू., पृ. 189

मुक्तिबोध में बीभत्स और भयानक बिम्ब अधिक हैं जो उनके नंगे यथार्थबोध को सूचित करते हैं। वास्तव में उनका काव्य-संसार कभी-कभी मनुष्यों और दैत्यों का मिला-जुला एक भयानक संसार जान पड़ता है जिसके चित्र बार-बार आते हैं—

भयानक हुई जातीं/जिन्दगी की सड़कें···।

—चाँ. मुँ. टे., पृ. 235

सड़कों पर जलूस दिखायी पड़ता है जिसमें नेता, विक्रेता, अफसर और कलाकार सब हैं—

चेहरे वे मेरे जाने-बूझे-से लगते/··· ··· ···/उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण/मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान/यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात।

—वही, पृ. 256

शहर में मार्शल लॉ लगा है। बलवा, अग्निकाण्ड, गोलाबारी हो रही है। पर सभी चुप हैं—

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्/चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं/··· ··· ···/चढ़ गया उर पर कहीं कोई निर्दयी/··· ··· ···/बड़े-बड़े चेहरों पर स्याहियाँ पुत गयीं।/ नपुंसक श्रद्धा / सड़क के नीचे की गटर में छिप गयी,/कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी। —वही, पृ. 284-85

एक आततायी सत्ता के सामने ईमान को कैद करके लाया गया है। पर सभी खामोश हैं—

सब खामोश / मनसबदार / शाइर और सूफी / अल-गजाली, इब्नेसिन्ना, अलबरुनी / जालिमों फाजिल सिपहसालार, सब सरदार हैं खामोश। —वही, पृ. 4

काव्य-नायक को अँधियारे कमरे के स्याह सिफर में एक टूटे से स्टूल पर बिठाया गया है। उसके शीश की हड्डी तोड़ी जा रही है। देखा जा रहा है—

कहाँ-कहाँ सच्चे सपनों के आशय/कहाँ-कहाँ क्षोभक/स्फोटक सामान।/भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे/तलघर अन्दर/छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो/जहाँ कि चुप-चुप खयालों से परचे/ छपते रहते हैं, बाँटे जाते।/··· ··· ···/कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का/कहाँ है आला ?/··· ··· ···/स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता/क्रास एक्जामिन हिम थारोली।

—वही, पृ. 276-277

मुक्तिबोध की कविता में जहाँ एक विराट रहस्यमय पुरुष होता है वहीं एक नृशंस अत्याचारी भी किसी-न-किसी रूप में होता है जो कनपटियों पर थप्पड़ मारता है, दिमाग के पुर्जों को टार्चर करता है। यह दुष्ट व्यवस्था का दस्यु लोगों के सीने पर चट्टानी आकृति बनकर दबंग, रोबीले ठाट से बैठा हुआ है। इस दुष्ट व्यवस्था में उदार चेतनाध्यक्ष की, आत्माध्यक्ष की हत्या हो चुकी है। गांधीजी एकदम पंगु हो गये हैं। मुक्तिबोध के काव्य में यदि बादशाह, सैनिक कैदी, जेल, विद्रोही, जासूस, थानेदार, मजिस्ट्रेट, क्रान्ति, कर्फ्यू, सैनिक शासन, हड़ताल, जलूस आदि से सम्बन्धित चित्र हैं तो दूसरी ओर कारीगर, लुहार, हलवाई, असहाय, फटेहाल आदि के चित्र भी। मुक्तिबोध जब प्रेत, राक्षस, साँप, अजगर, बरगद, खँडहर, सूनी बावड़ी, ठूँठ, पीपल, टूटी गुम्बद, भग्न मन्दिर, घुग्घू, आदि को भी इसमें मिला देते हैं तो यह संसार वन्य-संसार हो जाता है—दहशत पैदा करनेवाला संसार। एक ऐसा संसार जो ध्वस्त हो चुका है। श्रीकान्त वर्मा ने सही लक्ष्य किया है कि मुक्तिबोध की सार्थकता इसमें है कि उन्होंने इतिहास के प्रश्नों को केवल इतिहास के प्रश्न कहकर नहीं छोड़ दिया, बल्कि उन्हें कविता के प्रश्नों में बदल दिया।[12] मुक्तिबोध की कविता में एक-से-एक विप्लवी दृश्य आते हैं—

> कि बिल्डिंग गूँजती है, काँप जाती है।/ दिवालें ले रहीं अलापा,/ पत्थर गा रहे हैं तेज,/तूफानी हवाएँ धूम करती गूँजती रहतीं।/ उखड़ते चौखटों में ही/खड़ाखड़ खिड़कियाँ नाचतीं,/भड़ाभड़ सब बजा करते खड़े बेडौल दरवाजे।/व बाहर के पहाड़ी पेड़/ जड़ में जम,/भयानक नाचने लगते। —चाँ. मुँ. टे., पृ. 154
>
> चमक-चमक उठते हैं हरे-हरे अचानक/वृक्षों के शीश पर नाच-नाच उठती हैं बिजलियाँ,/शाखाएँ, डालियाँ, झूमकर झपटकर/ चीख, एक दूसरे पर पटकती हैं सिर···।
>
> —वही, पृ. 246

क्रान्ति का चित्र देखने के लिए 'अँधेरे में' शीर्षक कविता का अन्तिम चित्र देखा जा सकता है। कवि सोचता है कि किस तरह सीने पर चढ़ी हुई चट्टानें उड़ेंगी—

> किस तरह से आग भभकेगी,/उड़ेंगी किस तरह भक्-से/हमारे वक्ष पर लेटी हुई/विकराल चट्टानें। —वही, पृ. 151

और क्रान्ति उसके लिए जरूरी लगती है—

> बिखराकर नीले-नीले स्फुलिंग समूह/वह बनती है अकस्मात्/ विराट मनुष्य-रूप/नहीं जान पाता कि छूकर मुझे मुझमें समा गयी कि/उसमें समा गया मैं।/सुनहली काँपती-सी सिर्फ एक

लहर रह जाती है/कि जिसे क्रान्ति कहते हैं/कि कहते हैं जन क्रान्ति।
—भू. भू. खा. धू., पृ. 192

लावा कहकर निन्दा करके/कोई उसको रोक न सकते/वह भवितव्य अटल है, उसको/अँधियारे में झोंक न सकते।
—चाँ. मुँ. टे., पृ. 109-110

मुक्तिबोध की कविता में यह क्रान्ति पूँजीवाद के विरुद्ध है। क्योंकि उनके अनुसार 'पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता' (चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 284)। वे जानते हैं कि पूँजीवादी शक्तियाँ जनता को दमन की फासिस्ती भट्टी में झोंककर उनकी अस्थियों से आराम का फर्नीचर बनाना चाहती हैं। वे शासन के चाकू से उसकी विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखों को काटकर निकाल देना चाहती हैं (भूरी भूरी खाक धूल, पृ. 203) इसीलिए कवि उस सत्ता का विरोध करता है जिसका 'अज्ञात तड़ित स्रोतों' पर कब्जा है तथा जिसके 'काले लम्बे हाथ' मेन 'स्विच' पर हैं (वही, पृ. 49)। वह इस सत्ता के तिलिस्म को तोड़ फेंकना चाहता है--

तोड़ दे द्वार सौ रुद्ध किये/जो खड़ी शिलाएँ हैं अन्धी/शोषक की आवश्यकताएँ दे तोड़ तिलिस्मी सत्ताएँ/हे कष्टजीवियों के प्रतिनिधि/नष्ट कर लोक-शशि-ग्रास-मग्न/सौ राहु-केतु।
—भू. भू. खा. धू., पृ. 250

पूँजीवाद के विरुद्ध यह संघर्ष मुक्तिबोध के संघर्ष की दूसरी मुख्य दिशा है।

मुक्तिबोध के काव्य में आक्रामकता है। वे समझौतावाद के विरुद्ध हैं--

शिलीभूत भूमि से/सामंजस्यों का घनीभूत जितना/यत्न है तुम्हारा,/उतनी ही बंजर बनती है दुनिया/उतनी ही जिन्दगी उजाड़ बनती।
—चाँ. मुँ. टे., पृ. 241

उन्हें पता है कि लोग चुपचाप चल रहे हैं और उनके भीतर कोई आग जल भी रही है तो वह अन्तस्थ है—

अँधेरे की सुरंग गलियों में चुपचाप/चलते हैं लोग-बाग/दृढ़-पद गम्भीर/बालक युवा गण/मन्द गति नीरव/किसी निज भीतरी बात में व्यस्त हैं/कोई आग जल रही तो भी अन्तस्थ।
—वही, पृ. 281

और यह सच है कि ऐसी—

समस्त अग्नियाँ, अकेले में जलती हुई/करती हैं अपनी ही/ऐसी की तैसी।
--वही, पृ. 230

अतः कवि ने समूह-मुक्ति का समर्थन किया है—

याद रखो,/ कभी अकेले में मुक्ति न मिलती / यदि वह है तो सबके ही साथ है। —वही, पृ. 242

जबकि सभ्यता एक अँधेरी/भीम भयानक जेल/तोड़ो जेल, भगाओ सबको, भागो खुद-भी। —भू. भू. खा. धू., पृ. 76

कवि को विश्वास है कि जनता के गुणों से ही भावी का उद्भव होगा। पर जनता उसके लिए भीड़ नहीं है, वह एक संगठित जन-समूह है—

वह जहाज/क्षोभ विद्रोह भरे संगठित विरोध का/साहसी समाज है—

कवि की दृष्टि में यह जनता महान है—

वे लोग नहीं समझे कि सुनहले मैदानों/के खुले-खुलेपन के बेहद भागते छोर/के पीछे भाग रहे पैरों जाँघों में गरम सुनहला खून/बिजलियों का-सा है/यह जीवन गहरा है, ऊँचा है, प्यासा है/वह अति साधारण फटेहाल ही क्यों न रहे/पर, उसके अपने पास दार्शनिक कविता-सी / जो त्वरा-भरे जीवन के धुरा-गीत की यात्रा-सी/जीवन्त मान्यता-सी/जिसके अनुरोधों द्वारा जगत-चक्र की गति/अपने अनुसार मोड़ना चाहता है।

—भू. भू. खा. धू., पृ. 120

डायरी में कवि लिखता है, 'कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि एक स्थान में एकत्र जनता भीड़ नहीं है, क्योंकि वह संगठित है। जहाँ संगठन है वहाँ एक प्रेरणा और उद्देश्य भी है। जहाँ एक प्रेरणा और उद्देश्य है वहाँ एक स्फीत और सक्रिय चेतना है। देश-विदेश के पिछले इतिहास से हमें यह सूचित होता है कि संगठित जनता ने असाधारण कार्य किया है।[13] कवि की यही समूह-दृष्टि उसके काव्य में प्राप्त विराट चित्रों का आधार है। मुक्तिबोध के काव्य में समुद्र, बरगद, ब्रह्माण्ड और विराट पुरुष के चित्र बार-बार आये हैं। कवि का विराट पुरुष इतना विराट है कि सागर का पानी सिर्फ उसके घुटनों तक है। उसका मुख-मण्डल आकाश छूता है। अनगिनत ग्रह, तारे चमक रहे हैं उसके कन्धों पर। चाँद कन्दील-सा लटक रहा है एक ओर (चाँ. मुँ. टे., पृ. 184)। बरगद कवि का प्रिय पेड़ है। वह उसकी कविता में बार-बार आता है। कहीं वह जनसमूह का प्रतीक है तो कहीं इतिहास-बोध का—

दीखता है सामने ही अन्धकार-स्तूप-सा/भयंकर बरगद/सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों/गरीबों का वही घर, वही छत।

—वही, पृ. 259

तजुर्बों का तावूत/जिन्दा यह बरगद। —वही, पृ. 32

बरगद को किन्तु सब/पता था इतिहास। —वही, पृ. 36

बरगद के साथ ही मुक्तिबोध की कविताओं में 'तुलसी' भी आती है। तुलसी भारतीय आस्तिक जन के लिए एक पवित्र पौधा है। मुक्तिबोध उसे सात्विक और शक्तिशाली विचारों का प्रतीक मानते हैं—

खँडहरनुमा जिन्दगी के आँगन में एक ओर / शक्तिशाली विचारों की/लहलहाती तुलसी खड़ी है आज।

—भू. भू. खा. धू., पृ. 190

क्योंकि अध्यात्म के चोंगे सब/अकादमी कुर्सी पर शोभित हैं/ इसलिए तुलसी वह निन्दित है। —वही, पृ. 18

मुक्तिबोध की कविता का उद्देश्य बहुत साफ और स्पष्ट है—

सुबह होगी कब/और मुश्किल होगी दूर कब।

—चाँ. मुँ. टे., पृ. 46-47

सत्य के गर्वीले/अन्याय न सह, मित्र/संघर्ष करता हुआ तू जीवन का खींच चित्र/मिथ्या की हत्या कर बुद्धि के, आत्म के विष-भरे तीरों से/खींच चित्र मानव का प्राणों के रुधिर की लकीरों से। —भू. भू. खा. धू., पृ. 216

उनकी कविता का मूल स्वर संघर्ष है और यह लगभग सभी कविताओं में है। इसीलिए उनका पूरा काव्य एक ही लम्बी कविता प्रतीत होता है और उसमें दुहराव भी बहुत है। मुक्तिबोध एक ही शब्द को, प्रतीक को बार-बार दुहराते हैं। कहीं एक ही शब्द, प्रतीक अलग-अलग अर्थ देते हैं; कहीं अलग-अलग शब्द और प्रतीक बार-बार एक ही अर्थ देते हैं। यह उनके काव्य की कमजोरी है। मुक्तिबोध ने कविता में कथ्य को महत्त्व दिया है। अतः उनकी कविता कथ्यात्मक अधिक, बिम्बात्मक कम है। उनकी कविताओं में कहीं-कहीं हल्की-सी कथा भी है। कहीं-कहीं वे सपाट कथनों का सहारा लेते हैं और वक्तव्यों में अपना स्थूल उद्देश्य साफ-साफ कहते हैं—

समस्या एक—/मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/सभी मानव/ सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त/कब होंगे?

मुक्तिबोध में इस प्रकार का सीधा कथन कम नहीं है फिर भी उन्होंने अपने चिन्तन को बिम्बों में ढाला है। उनके बिम्ब मौलिक और नये हैं। अपनी देखी हुई और महसूस की हुई दुनिया को कविता में बड़ी तीव्रता से मुक्तिबोध ने उतारा है। इसीलिए उनकी बिम्बयोजना, उनकी प्रतीक-योजना, उनके सादृश्य-विधान—सबमें एक मौलिकता दिखायी पड़ती है। यह मौलिकता उनके आत्मसंघर्ष से अर्जित मौलिकता है। इसीलिए अपनी

कविताओं के केन्द्र में वे स्वयं आ जाते हैं। स्वयं बोलने लगते हैं। यह सम्बोधन-शैली उनकी कविताओं में बहुत है। वे अपने विचारों का विश्लेषण करने लगते हैं, समझाने लगते हैं। कहीं-कहीं तो सीधे-सीधे पूँजीवाद पर प्रहार करने लगते हैं। एक लम्बा-सा भाषण दे डालते हैं। लेकिन इसके बावजूद उनकी कविताएँ प्रायः गद्यात्मक नहीं होतीं। उनमें तुक भी है, लय भी। मुक्तिबोध के काव्य-कौशल पर निराला की कला का जबरदस्त प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन इस प्रभाव को मुक्तिबोध के निजी आत्मसंघर्ष और सूक्ष्म निरीक्षण ने अपनी मौलिक चमक दे दी है। मुक्तिबोध के मौलिक सादृश्य विधान के लिए केवल कुछ उदाहरण ही पर्याप्त हो सकते हैं—

> अपनी अपराधी कन्या की चिन्ता में माता-सी बेकल/उद्विग्न रात। —भू. भू. खा. धू., पृ. 16

> अँधियारे में काले सियार-से घूम रहे/मैदान सूँघते हुए हवाओं के झोंके। —वही, पृ. 171

> मेहनती गरीब के किसी रोगग्रस्त/क्षीणकाय किन्तु भोले प्यारे शिशु-सा/यह मृतप्राय दिन। —वही, पृ. 209

> मैली बासी धोती-सी मेरी यह/अति तुच्छ आत्मा।
> —वही, पृ. 215

मुक्तिबोध की तत्सम शब्दावली प्रमाण है कि उनकी कविता चिन्तन की कविता है, पर वह चिन्तन कोरा चिन्तन नहीं है। कवि ने ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा डायरी में की है। नयी कविता के उस दौर में मुक्तिबोध शायद अपनी कविता के प्रति सबसे अधिक जागरूक कवि थे। उनकी कविताएँ बड़े परिश्रम से लिखी गयी कविताएँ हैं जैसे बढ़ई रन्दे और बसूले से लकड़ी की छील-छाल करता है। नेमिचन्द्र जैन को सम्बोधित एक पत्र में मुक्तिबोध लिखते हैं, 'आप विश्वास नहीं करेंगे, एक कविता को दुरुस्त करने के लिए छः घण्टे लगते हैं।'[14] उन्हीं को लिखे गये एक दूसरे पत्र में वे लिखते हैं, 'कविता सुधारते नाक में दम आ गया है। कैसी विपत्ति मोल ले ली'[15] वास्तव में जिस जटिल वास्तविकता को मुक्तिबोध रखना चाहते थे उसका विराट चित्र खींचने के लिए कविता को बहुत काटना-छाँटना और गढ़ना पड़ता था और वह काफी लम्बी भी हो जाती थी। मुक्तिबोध की कविताओं में एक ओर कल्पना की विराटता है दूसरी ओर गहन आत्मसंघर्ष। यह सर्जनात्मक मन्थन उनकी कविताओं को महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करता है। मुक्तिबोध की कविता में क्षण की अनुभूति का चित्र नहीं खींचना था बल्कि जटिल अनुभूतियों का दस्तावेज

प्रस्तुत करना था। डायरी में वे लिखते हैं, 'यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुम्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है, और उसके तत्त्व भी परस्पर गुम्फित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ नहीं लिख पाता और जो छोटी होती हैं वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती हैं।'[16]

मुक्तिबोध की कविता जिस भयंकर त्रासदीय तनाव में लिखी गयी है उसमें वह अधूरी ही हो सकती है। उनकी कविता सामंजस्य और आनन्द की कविता नहीं है। वह शान्त और सुखी नहीं करती—दहशत पैदा करती है, उभाड़ती है, झकझोरती और बेचैन करती है। मुक्तिबोध ने अपनी कविता की तुलना साँप से की है—

> कोई साँप पहाड़ी/निकलकर भागता है लहरीली गति से,/मानो मेरी कविता की कोई पाँत। —चाँ. मुँ. टे.

सचमुच साँप की ही तरह भयानक सुन्दर हैं उनकी कविताएँ। उन्होंने उन्हें हिडिम्बा भी कहा है—

> इसीलिए, मेरी कविताएँ/भयानक हिडिंबा हैं,/वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ। —वही, पृ. 222

यह रेखांकित करने की बात है कि मुक्तिबोध की कविताओं में भय, शंका और तनाव से मुक्त चित्र दुर्लभ हैं। कहीं-कहीं इक्के-दुक्के इस तरह के चित्र मिल जाते हैं—

> समीर ने देखा न आव और ताव भी/पूछा न नाम और गाँव भी/मुझसे लिपट गया/हाथों में थमी हुई/पुस्तक लुढ़क गयी। अनाकार स्पर्श सब/मैत्री के सुलग गये!/कमरे में झूमकर/कुदकते बच्चों से प्यार कर/अलकों में खेलकर/पीले कपोलों से मेल कर/भाभी के चरण छू, अंचल को झेलकर/झूमा और नाचा वह/बच्चों को थपियाया/खूब शोर/आनन्द का खूब जोर/हँसी और कहकहे। —भू. भू. खा. धू., पृ. 183

इन पंक्तियों का मिलान निराला की 'जुही की कली' कविता से किया जा सकता है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि नारी और उसके प्रेम को विषय बनाकर कोई कविता मुक्तिबोध ने नहीं लिखी। आलिंगन-चुम्बन का एक ही छोटा चित्र आया है—

> कमरे में सुबह की धूप आ गयी है,/गैलरी में फैला है सुनहला रवि छोर/क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी?/हाय, यह वेदना स्नेह की गहरी/जाग गयी क्योंकर?
>
> —चाँ. मुँ. टे., पृ. 179-180

पर यह चित्र भी उस अभाव-बिन्दु से उत्पन्न है जहाँ पहुँचकर निराला लिखते हैं, "धिक् जीवन जो सहता ही आया है विरोध।"

दरअसल मुक्तिबोध की कविता ने कविता की मान्यता बदल दी। उनकी कविता प्रचलित काव्य परिपाटी का ध्वंस करती है और कहना न होगा कि उनके बाद की कविता ने उनके मुहावरे और तेवर का अधिकतम अनुकरण किया है, आज जो आलोचक मुक्तिबोध के काव्य को मार्क्सवादी या अस्तित्ववादी या रहस्यवादी कठघरे में रखकर जाँचना-परखना चाहते हैं उन्हें समझना चाहिए कि मुक्तिबोध इनमें से किसी भी ढाँचे में फिट नहीं होते। वे पूँजीवादी व्यवस्था का जितना विरोध करते हैं उतना ही मनुष्य को दबानेवाली तानाशाही सत्ता का भी। वे व्यक्ति के भीतरी सत्य को —विवेक, संकल्प और अनुभव-सत्य को—भी बार-बार रेखांकित करते हैं। शमशेर के शब्दों में, 'मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएँ लाँघकर, प्रगतिवाद से मार्क्सी दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार सँभाल और उसकी स्वतन्त्रता महसूस कर, स्वतन्त्र कवि-रूप से, सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर, निराला की सुधरी और खुली मानवतावादी परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया' (वही, भूमिका, पृ. 26)। मुक्तिबोध इस तथ्य से वाकिफ हैं कि दुष्ट व्यवस्था सही आदमी को नष्ट कर देना चाहती है—

> मारो गोली, दागो स्साले को एकदम/दुनिया की नजरों से हटकर/छिपे तरीके से/हम जा रहे थे कि/आधी रात—अँधेरे में उसने/देख लिया हमको।/ ... ... /हाय, हाय मैंने उन्हें देख लिया नंगा/इसकी मुझे और सजा मिलेगी।
>
> —वही, पृ. 247

मगर आदमी की अदम्य जीवनी शक्ति पर उन्हें विश्वास है। मनुष्य के सौजन्य और मानवीय माधुर्य-अनुभवों पर उन्हें विश्वास है—

> भले ही उजाड़ और/चाहे जितनी जन-हीन/लगे यह पूरी भूमि,/कुशल व चाहे जितना बलवान/वह यातुधान हो,/लोग अभी जिन्दा हैं, जिन्दा। —वही, पृ. 224

> माना कि जिन्दगी बदरंग विकृताकृति-सी है/पर, उसके दरिद्र परिदृश्यों के भीतर भी/वे मानवीय माधुर्य-अनुभवों की छवियाँ/जाने क्या-क्या कर सकती हैं। —भू. भू. खा. धू., पृ. 124

मुक्तिबोध को विश्वास है कि अत्याचारी मरेगा और इस पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो जायेगा—

> काली पसली शोषक युग की/सत्ता की छाती पर बैठी/गला दबाकर जनता जग की। —वही, पृ. 180

'इस नगरी में' शीर्षक कविता में वे कंस का भय-कातर रूप चित्रित करते हैं। वह बेचैनी में अपने सामने अपनी मौत देख रहा है—

> अत्याचारी जीवन के इस भीषण तरु के/फल-सी संस्कृति के कड़ुए गूलर में चंचल/कीटों-से लोक-विरोधी भावों की हलचल/ मुरझायेंगी, फूटेंगे पापों के सौ क्षण/मृत्यु की अँधेरी मौन गुहाओं में भीषण।
> —वही, पृ. 173

मुक्तिबोध की कविता में जैसे किसी रहस्यमय गुहा का द्वार खुलता है, जैसे कोई रहस्यमय अजनवी पुरुष आता है वैसे ही कभी-कभी एक शिशु भी आता है—

> सिर पर, टोकरी में / छिपाया है मैंने कोई यीशु,/अपना कोई शिशु।
> ——तारसप्तक, पृ. 80

> सिर की टोकरी-विवर में मानव-शिशु / वह कोई सद्योजात/ मृदुल-कर्कश स्वर में/रो रहा,/सच प्यार उमड़ आता उस पर।
> —चाँ. मुँ. टे., पृ. 117

मुक्तिबोध की कविता के मर्म को जानने के लिए इस शिशु को समझना जरूरी है। यह शिशु अनुभव-बालक है—जीवन का सत्य है—

> किसी ने आत्मज सद्योजात/कहाँ लाकर रक्खा, छोड़ा-त्यागा,/ शिशु रोता है वह जोर-शोर के साथ/अरे रे कौन अभागा वह,/ जिसने यों आत्मोत्पन्न सत्य त्यागा ?/ किस मौन विवशता के कारण ?
> —वही, पृ. 130

> चिथड़े में सद्यजात एक बालक सुन्दर/आत्मारूपी माता ने जाने कब त्यागा/जीवन का आत्मज़ सत्य/न जाने किस डर से।
> ——भू. भू. खा. धू., पृ. 171

'इस नगरी में' शीर्षक कविता में कवि इस अनुभव-बालक को अपनी गोद में उठा लेता है और खुश-खुश अपने घर लाता है। वह सोचता है कि न जाने कितने कारावासी वसुदेव स्वयं अपने ही हाथों अपने शिशु लेकर अँधेरी बरसाती रातों में नन्दग्राम की ओर चले जाते हैं। न जाने किसके डर से वे जीवन के आत्मज सत्यों को स्थानान्तरित कर देते हैं (भूरी भूरी खाक धूल, पृ. 172)। 'अँधेरे में' शीर्षक कविता में गांधीजी इस शिशु को सौंपकर अदृश्य हो जाते हैं—

> आश्चर्य अद्‌भुत यह शिशु कैसे/मुसकरा उस द्युति-पुरुष ने कहा तब/'मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था।/सँभालना इसको, सुरक्षित रखना'।
> —चाँ. मुँ. टे., पृ. 271

कवि को भय है कि कहीं इस बच्चे का रोना सुनकर आततायी उसे मार न डालें——पर वह खुश है लड़के के क्रोध पर कि वह खुद जो जीवन में न कर सका उसे वह लड़का पूरा कर रहा है। अपनी कविता में उसी बालक

को लिये कवि भागता जा रहा है-—उसकी रक्षा के लिए—अपने अनुभवों, अपने सत्य की रक्षा के लिए—

> बालक लिपटा है मेरे इस गले से चुपचाप / छाती से कन्धे से चिपका है नन्हा-सा आकाश/ ··· ···/चला जा रहा हूँ/ ··· ··· ···/सहसा रो उठा कन्धे पर वह शिशु/··· ···/मुझे डर यदि कोई वह स्वर सुन ले / हम दोनों फिर कहीं नहीं रह सकेंगे।/ ··· ··· ···/मैं चुप करने की जितनी भी करता हूँ कोशिश,/और-और चीखता है क्रोध से लगातार / ··· ···/ किन्तु न जाने क्यों खुश बहुत हूँ।/जिसको न मैं इस जीवन में कर पाया,/वह कर रहा है। —वही, पृ. 271-272

> कहीं-कहीं मैं भी / हाय-हाय करते हुए, भाग चले लोगों में भागता,/गठरी है सिर पर,/कन्धे पर बालक,/फटे हुए अँगोछे से बँधी हुई/बच्ची है कसी हुई पीठ पर,/बोझ है कई मन,/यों मेरी कविता है बिना-घर/बिना-छत गिरस्तिन/जिसमें कि मेरा भाव ज्वलन्त जागता। —वही, पृ. 227

सन्दर्भ

1. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 3
2. आलोचना—6, पृ. 51
3. वही, पृ. 39
4. वही, पृ. 53-54
5. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 44
6. वही, पृ. 43
7. वही, पृ. 19
8. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 120
9. वही, पृ. 126
10. एव साहित्यिक की डायरी, पृ. 16-17
11. वही, पृ. 37-38
12. आलोचना-6, पृ. 59
13. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 34
14. आलोचना-6, पृ. 37
15. वही, पृ. 43
16. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 27

कविता में निम्नमध्यवर्गीय जीवन का बयान

कैसा असह्य, कितना जर्जर
यह मध्यवर्ग का निचला स्तर !

नागार्जुन (1911 ई.) की अधिकांश कविताएँ भारतीय मध्यवर्ग के इसी निचले स्तर अर्थात् निम्नमध्यवर्गीय जीवन को चित्रित करती हैं। उनकी कविता के वे अंश विशेष रूप से रेखांकित करने योग्य हैं जिनमें वे मामूली, उपेक्षित, असहाय जिन्दगी का चित्र प्रस्तुत करते हैं। बानगी के लिए इस प्रकार के कुछ चित्र नीचे प्रस्तुत हैं—

छोटे-छोटे मोती-जैसे दाँतों की किरणें बिखेर कर
नील कमल की कलियों जैसी आँखों में भर
अनुनय सादर
पहले; पीछे शासक की तर्जनी उठाकर
इंगित करती; नहीं तुम्हें मैं जाने दूँगी
चार साल की चपल-चतुर वह बहरी-गूँगी
कितनी सुन्दर, नयनाभिराम
उस लड़की का है जया नाम

× × ×

फटी दरी पर बैठा है चिर-रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ भार से अलस शिथिल है अंग-अंग,
मुँह पर उसके मटमैली आभा
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आयी है
चला चलाकर जीभ स्वाद लेती होंठों का

× × ×

बढ़ा है आगे को बेतरह पेट
धँसी-धँसी आँखें
फूले फूले गाल
टाँगें हैं कि तीलियाँ, अटपटी चाल
दो छोटी, एक बड़ी
लगी हैं थिगलियाँ पीछे की ओर
मवाद, मिट्टी, पसीना और वक्त—
चार-चार दुश्मनों की खाये हुए मार
निकर मना रहा मुक्ति की गुहार
आँत की मरोड़ छुड़ा न पायीं बरगद की फलियाँ
खड़ा है नयी पौध पीपल के नीचे खाद की खोज में
देख रहा ऊपर
कि फलियाँ गिरेंगीं
पेट भरेगा
और फिर जाकर
सो रहेगा चुपचाप झोपड़े के अन्दर
भूखी माँ के पेट से सट कर[1]

ऊपर उद्धृत काव्य-चित्रों में पहला एक बहरी-गूँगी लड़की का है। दूसरा चित्र एक गरीब गर्भवती माँ और उसके रोगी बेटे का है। तीसरा चित्र उस नयी पौध का है जो आज भी भूखा है और जिसे अपनी भूख मिटाने के लिए बरगद की फलियाँ बीनना पड़ता है। नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत ये चित्र इतने वास्तविक और सजीव हैं कि इन्हें बिना देखे नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। नागार्जुन की कविता में इस प्रकार के अनेक चित्र मिलेंगे। 'देखना ओ गंगा मइया' शीर्षक कविता में वे मल्लाहों के नंग-धड़ंग छोकरों का चित्रण करते हैं जो उथली-छिछली धार में पैसे खोज रहे हैं। वे उन पैसों से बीड़ी पियेंगे। आम चूसेंगे। देह में साबुन की सुगन्धित टिकिया मलेंगे। सर में चमेली का तेल लगायेंगे। हम-उम्र छोकरी के लिए टिकली लायेंगे। कितनी सीमित हैं उनकी इच्छाएँ। अर्थशास्त्री शायद इसी को उनकी आवश्यक आवश्यकता कहें। नागार्जुन ने फटी बिवाइयोंवाले खुरदुरे पैरों, गुट्ठल घट्ठोंवाले कुलिश-कठोर पैरों, ठूँठ बाँहों, बीड़ी का धुआँ उगलते नाकहीन चेहरों, धँसी हुई आँखों, माचिस की तीली जैसी टाँगों, रोग से फूले हुए पेटों—तात्पर्य यह कि ग्रामीण उपेक्षित मनुष्य के सम्पूर्ण रूप को बहुत नजदीक से देखा है। देखा नहीं खुद भोगा है। 'रवि ठाकुर' शीर्षक कविता में नागार्जुन उनके वैभवपूर्ण आभिजात्य से अपनी अभावग्रस्त जिन्दगी की तुलना करते हुए लिखते हैं—

पैदा हुआ था मैं
दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में
... ...

मेरा क्षुद्र व्यक्तित्व
रुद्ध है सीमित है—
आटा-दाल-नमक-लकड़ी के जुगाड़ में !
पत्नी और पुत्र में !
सेठ के हुकुम में !
कलम ही मेरा हल है कुदाल है ! !
बहुत बुरा हाल है ! !

नागार्जुन ने अपनी कविता में इसी अभावग्रस्त जिन्दगी का चित्रण किया है। भूख की पीड़ा उनकी कविता में बार-बार व्यक्त हुई है। 'प्रेत का बयान' शीर्षक कविता एक भूख से मरनेवाले अध्यापक का बयान है। नागार्जुन अपनी कविता में उन शोषक शक्तियों का विरोध करते हैं जो निम्नमध्यवर्ग की जिन्दगी की फटेहाली के कारण हैं। वे पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, सम्प्रदायवाद आदि का विरोध करते हैं—

हाँ बापू, निष्ठापूर्वक मैं शपथ आज लेता हूँ
हिटलर के ये पुत्र-पौत्र जब तक निर्मूल न होंगे
हिन्दू-मुसलिम-सिख फासिस्टों से न हमारी
मातृभूमि यह जब तक खाली होगी—
सम्प्रदायवादी दैत्यों के विकट खोह
जब तक खँडहर न बनेंगे
तब तक मैं इनके खिलाफ लिखता जाऊँगा

'विजयी के वंशधर' शीर्षक कविता में नागार्जुन उन बाबुओं-मालिकानों पर व्यंग्य करते हैं जो छप्पन प्रकार के पकवान उड़ाते हैं। 'तो फिर क्या हुआ' शीर्षक कविता में वे उन बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य करते हैं जिन्हें केवल अपनी कुर्सी और अपने वेतन से मतलब होता है। समूचा गाँव नदी के पेट में चला गया है। हजारों लोग बेघर हो गये हैं। मगर ये बुद्धिजीवी कॉफ़ी या ओवल्टीन या नीबू का शर्बत पीकर गोल्डफ्लैक से धुएँ के छल्ले छोड़ते हुए 'स्टेट्समैन' की खबरों में डूब जाते हैं। 'कवि' शीर्षक कविता में नागार्जुन उन कवियों पर व्यंग्य करते हैं जिनका गला मीठा है। जो रेडियो के लिए गीत लिखते हैं। जो एज़रापाउण्ड और ईलियट को पढ़ते हैं और बाकी सबको ईडियट समझते हैं। 'जयति नखरंजनी' शीर्षक कविता में वे उन आधुनिकाओं का मजाक उड़ाते हैं जो सज-सँवरकर चमक-दमक के साथ एक मतदान-केन्द्र पर जाती हैं पर उँगली में काला निशान लगने के डर से बिना वोट दिये घर लौट आती हैं। नागार्जुन उन दैवी शक्तियों के प्रति भी

विरोध व्यक्त करते हैं जो मनुष्य को दबाती हैं। 'उद्बोधन' शीर्षक कविता में विन्ध्याचल पर्वत को सम्बोधित करते हुए वे लिखते हैं—

विनयावनत हुए तुम जिनको देख
और, जो गये तुमको चटपट टाप
वह अगस्त्य थे सचमुच कितने धूर्त

तात्पर्य यह कि नागार्जुन अपनी कविता में उस अभिजात मानसिकता का विरोध करते हैं जो मामूली आदमी की उपेक्षा करती है। इसी अर्थ में वे कवि की पक्षधरता का समर्थन करते हैं—

इतर साधारणजनों से अलहदा होकर रहो मत
कलाधर या रचयिता होना नहीं पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो···

नागार्जुन अपनी काव्य-मान्यताओं में विशुद्ध कलावाद का विरोध करते हैं तथा कला की सोद्देश्यता को स्वीकार करते हैं—

हाय रे दैव ! हाय भगवान
शब्द को दिया क्यों अर्थ का दान
ध्वनि ही ध्वनि देते, देते मात्र लय-तान
भावों की दलदल में आकण्ठमग्न काव्य कला
त्राहि त्राहि कर रही, उद्धार करो उसका
× × ×
यथासमय मुकुलित हों
यथासमय पुष्पित हों
यथासमय फल दें
आम और जामुन, लीची और कटहल !
तो फिर मैं ही बाँझ रहूँ !
मैं ही न दे पाऊँ—
परिणत प्रज्ञा का अपना फल !

जाहिर है नागार्जुन की कविता में कला की अलंकृति नहीं मिलेगी। उसमें सपाट बयान अधिक है। नागार्जुन जो कहना चाहते हैं सीधे कहते हैं। उनमें सूक्ष्मता और सांकेतिकता कम है। कला की दृष्टि से यह कविता की कमजोरी भी है। पर यह कमजोरी ही नागार्जुन की कविता को अधिक प्रेषणीय बना देती है। उसे दुर्बोध जटिलता से मुक्त कर देती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि नागार्जुन में कवि-कौशल नहीं है। वस्तुत: व्यंग्य उनकी कविता की सबसे बड़ी शक्ति है। दिल्ली से टिकट लेकर लौटे नेताओं पर एक व्यंग्य देखिए—

स्वेत स्याम रतनार आंखियाँ निहार के
सिण्डीकेटी प्रभुओं की पगधूर झार के

दिल्ली से लौटे हैं कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आये दिन बहार के।

वैसे तो नागार्जुन के व्यंग्य प्रायः सीधे होते हैं पर कहीं-कहीं नागार्जुन अपना अद्‌भुत कौशल दिखाते हैं। कविता के प्रचलित रूप को तोड़कर ऐसा नयापन पैदा करते हैं कि उनका लोहा मान लेना पड़ता है। नागार्जुन की कविता ऐसे स्थलों पर एक पूरी स्थिति को मूर्त कर देती है या फिर व्यंग्य को बहुत तीक्ष्ण बना देती है। 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में एक पूरी वास्तविकता दृश्य बन गयी है—

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर-भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलायी पाँखें कई दिनों के बाद

कहा जा चुका है कि कविता के प्रचलित रूप को तोड़कर उसे एक नया कलेवर दे देने का अद्‌भुत कौशल नागार्जुन के पास है। जिन चीजों में और जिन शब्दों में कविता की कोई सम्भावना नहीं उनमें भी एक सशक्त कविता पैदा कर देना नागार्जुन की अपनी विशेषता है। इसके उदाहरण के लिए नागार्जुन की दो प्रसिद्ध कविताओं को पढ़ना आवश्यक है। पहली कविता है 'पाँच पूत भारत माता के' और दूसरी है 'मन्त्र कविता'। नीचे दोनों के अंश उद्धृत हैं—

पाँच पूत भारतमाता के दुश्मन था खूँखार
गोली खाकर एक मर गया बाकी रह गये 4
चार पूत भारतमाता के चारों चतुर प्रवीन
देश निकाला मिला एक को बाकी रह गये 3
तीन पुत्र भारतमाता के लड़ने लग गये वो
अलग हो गया उधर एक अब बाकी रह गये 2
दो बेटे भारतमाता के छोड़ पुरानी टेक
चिपक गया है इक गद्दी से, बाकी रह गया 1
एक पुत्र भारतमाता का, कन्धे पर है झण्डा
पुलिस पकड़ के जेल ले गयी, बाकी रह गया ०

'मन्त्र' कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

ओं भाषण···
ओं प्रवचन···
···   ···   ···

ओं नारे और नारे और नारे और नारे
ओं सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ
ओं कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
···   ···   ···

ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्दी पर आजन्म व्रजासन
···   ···   ···

ओं ऐं ह्रीं क्लीं हूँ आङ्
ओं हम चबायेंगे तिलक और गांधी की टाँग
···   ···   ···

ओं दुर्गा दुर्गा दुर्गा तारा तारा तारा
ओं इसी पेट के अन्दर समा जाए सर्वहारा

नागार्जुन लोक-जीवन के कवि हैं। जन कवि हैं। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा है। उसमें लोक-जीवन की शब्दावली बहुत है। गाँव के परिवेश की चीजों के नाम उनकी कविता में बहुत मिलेंगे। कहीं पेड़ों के नाम। कहीं मछलियों के नाम। नागार्जुन को अपनी धरती का मोह बार-बार उमड़ता है। अपने गाँव से बिछुड़ने की पीड़ा उन्हें सालती रहती है। उनकी कई कविताओं में इस पीड़ा और इस मोह को अभिव्यक्ति मिली है। 'सिन्दूर-तिलकित भाल' शीर्षक कविता में नागार्जुन को अपने स्वजनों की स्नेह-भरी आँखें याद आती हैं। अपना तरउनी गाँव याद आता है। मिथिला का वह भूभाग याद आता है जहाँ लीचियाँ हैं, आम हैं, धान है, कमल है, कुमुदिनी है, तालमखान है। 'ऋतुसन्धि' शीर्षक कविता में कवि को अपने गाँव की बरसात याद आती है। वाग्मती की धारा और पोखरों के कुमुद-पद्म मखान याद आते हैं। 'एक मित्र को पत्र' शीर्षक कविता में कवि याद करता है कि वाग्मती-कमला और गण्डक-कोसी अंचलों में मकई-मड़ुआ, साम-कावन, धान-गम्हड़ी आदि की बुवाई हो रही होगी। 'बहुत दिनों के बाद' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

बहुत दिनों के बाद
अब की मैं जी-भर छू पाया
अपनी गँवई पगडण्डी की चन्दनवर्णी धूल
बहुत दिनों के बाद
बहुत दिनों के बाद
अब की मैंने जी-भर तालमखाना खाया

गन्ने चूसे जी-भर

बहुत दिनों के बाद।

धरती को नागार्जुन ने माँ कहा है। भारतीय ऋषियों, कवियों-चिन्तकों ने बहुत प्राचीन काल से धरती को माँ के रूप में देखा है। वह आधार है। वही जन्म देती है, वही पालन करती है। नागार्जुन ने इस धरती को विनाशक वैज्ञानिक अस्त्रों से बचाने की इच्छा व्यक्त की है। युद्धों का विरोध करते हुए वे लिखते हैं—

पौधों या पेड़ों में कभी नहीं फली हैं छुरियाँ
कन्द की जड़ से कभी नहीं निकला है विस्फोटक बम
चर कर घास गाय ने दूध के बदले नहीं दिया हलाहल
सोख कर धरती का रस जहर नहीं बरसा कभी भी बादल
निछावर हम इस पर
तुम्हारी नहीं, हमारी है धरती
सुनो हे वज्रपाणि युद्धव्यसनी दानव
सुनो हे अशोभन अमंगल अघायु
तुम्हारा अपावन स्पर्श नहीं चाहती
अहल्या कल्याणी चिरकुमारी धरती

धरती के प्रति यह पूज्य भाव नागार्जुन की कविता को महान बनाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नागार्जुन की कविता की शक्ति भारतीय निम्नमध्यवर्गीय जीवन को पूर्ण सहानुभूति के साथ चित्रित करने में है। मगर यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी है कि नागार्जुन ने राजनीतिक कविताएँ भी बहुत लिखी हैं और ये कविताएँ उनकी असफल कविताएँ हैं। इनकी असफलता का कारण नागार्जुन की राजनीतिक समझ है। वे समय-समय पर अपनी राजनीतिक विचारधारा बदलते रहे हैं इसीलिए उनकी कविताएँ तात्कालिक राजनीतिक समझ से लिखी गयी हैं। इसके उदाहरण में उनकी 'अब तो बन्द करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' शीर्षक कविता तथा 'पहल-8' में प्रकाशित कुछ कविताओं को साथ-साथ रखकर पढ़ा जा सकता है। उनकी कुछ और कविताओं को इन्हीं के साथ जोड़कर देखें तो पायेंगे कि उन्होंने कभी छापाकारों का समर्थन किया, कभी सम्पूर्ण क्रान्ति का और अब 'सम्पूर्ण क्रान्ति' को 'भ्रान्ति विलास' घोषित करते हैं। कहना न होगा कि यह भ्रान्ति नागार्जुन की राजनीतिक भ्रान्ति ही है। नागार्जुन ने जहाँ कहीं राजनीतिक अत्याचार का, तानाशाही का या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्धों का विरोध किया है वहाँ तो उनकी कविताएँ अपना अर्थ रखती हैं लेकिन जहाँ नागार्जुन अपनी कविता को कुछ राजनीतिक व्यक्तियों से जोड़ देते हैं वहाँ वे राजनीतिक अवसरवाद से ग्रस्त होकर अपना व्यापक अर्थ खो देती हैं। नागार्जुन का व्यक्तित्व एक विवादास्पद व्यक्तित्व रहा है। उन्हें

'प्रगतिशील' भी कहा गया है, 'प्रतिक्रियावादी' भी और 'अवसरवादी' भी। दरअसल यह अन्तर्विरोध नागार्जुन में है भी। वे कालिदास, विद्यापति और तुलसी के भी प्रेमी हैं तथा अपने को कम्यूनिस्टों से भी जोड़ते हैं। रोमैण्टिक कविताएँ भी लिखी हैं उन्होंने और नारेबाजी वाली राजनीतिक कविताएँ भी। बयान भी बदले हैं बार-बार उन्होंने। लेकिन इस सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट रहनी चाहिए कि नागार्जुन अपनी कविता में 'दल' के साथ तो नहीं मगर 'जन' के साथ बराबर बँधे रहे हैं। लोकजीवन और लोकमन को जितनी आत्मीयता से नागार्जुन ने व्यक्त किया है, किसी दूसरे आधुनिक हिन्दी कवि ने नहीं। कारण सिर्फ यह है कि वे स्वयं लोक के विभिन्न स्तरों से गुजरे हुए कवि हैं। देखा और भोगा है उन्होंने उन स्थितियों को, उस समूचे जीवन और भाषा-परिवेश को। इसीलिए उनकी कविता अपने पूरे विन्यास में—छन्द, लय, तुक हर दृष्टि से लोकजीवन की सच्ची कविता है। छन्द, लय, तुक आदि के क्षेत्र में उन्होंने अनेक नये प्रयोग भी किये हैं। वे भारतीय मिट्टी से जुड़े जनता के कवि हैं। उनके पास भाषा की अद्भुत शक्ति है। व्यंग्य करने में उनका मुकाबला कम कवि कर सकेंगे। भ्रष्ट व्यवस्था, पाखण्ड, शोषण, अन्धविश्वास आदि पर तिलमिलानेवाला व्यंग्य नागार्जुन करते हैं। व्यंग्य की यह शक्ति नागार्जुन में कबीर जैसी ही है। दोनों का भाषाबोध भी मिलता-जुलता है। नागार्जुन को जो जीवन्त भाषा मिली है वह जनता के बीच से ही मिल सकती है। कबीर को भी इसी तरह मिली थी, निराला को भी और प्रेमचन्द को भी।

सन्दर्भ

1. तालाब की मछलियाँ, पृ. 11, 158, 87

प्रकृति के साहचर्य में मुक्ति की तलाश

चील्ह
दबाये है
पंजों में
मेरे दिल को
हरी घास पर
खुली हवा में
जिसे धूप में
मैंने रक्खा ![1]

यह केदारनाथ अग्रवाल (1910 ई.) की एक छोटी कविता है। इसे कविता में एक सारगर्भित आत्मकथ्य भी कह सकते हैं। यह कविता विशेष रूप से गौर करने लायक है क्योंकि यह कवि केदारनाथ अग्रवाल के काव्य-संसार को बड़े सहज ढंग से खोलकर सामने रखती है। इस कविता के केन्द्र में 'दिल' है जिसे एक ओर चील्ह अपने पंजों में दबाये है और दूसरी ओर जिसे कवि ने हरी घास पर, खुली हवा में, धूप में रक्खा है। यह एक द्वन्द्व की स्थिति है। 'दिल' दो परस्पर विरोधी स्थितियों के बीच है। जाहिर है कवि ने जहाँ उसे रखा है वहाँ हरी घास है, खुली हवा है, धूप है। अर्थात् एक मुक्त वातावरण है। कवि अपने को किन्हीं मुट्ठियों में बन्द होने से, दमघोंटू स्थितियों से बचाकर एक उन्मुक्त वातावरण में जिन्दा रखना चाहता है। प्रकृति के साहचर्य में मुक्ति की यह तलाश केदारनाथ अग्रवाल की कविता में सर्वत्र देखी जा सकती है।

ऊपर उद्धृत कविता में कवि ने जिसे 'खुली हवा' कहा है उसके पूरे चरित्र से परिचित होना चाहें तो कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ें—

अनोखी हवा हूँ, बड़ी बावली हूँ !
बड़ी मस्तमौला, नहीं कुछ फिकर है
बड़ी ही निडर हूँ, जिधर चाहती हूँ

उधर घूमती हूँ, मुसाफिर अजब हूँ !
न घर-बार मेरा, न उद्देश्य मेरा,
न इच्छा किसी की, न आशा किसी की,
न प्रेमी, न दुश्मन,
जिधर चाहती हूँ, उधर घूमती हूँ !
हवा हूँ, हवा, मैं वसन्ती हवा हूँ।[2]

यह है वसन्ती हवा—वावली, मस्तमौला। इसी हवा में कवि ने अपना 'दिल' रक्खा है। 'धूप' से तो इस कवि का वहुत गहरा लगाव है। धूप की विविध छवियाँ केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में मिलेंगी। धूप धरती पर उतरी है जैसे शिव के जटाजूट पर नभ से गंगा उतरी हो। सूर्य की गगरी छलक पड़ी है जैसे व्रज की गली में गोरस की गगरी छलक पड़ी हो। धूप में खिली रूप भरी नगरी फूल-कटोतें-सी मुस्करा रही है। धरती पर किरनों ने पाँव रखा है। उनके तलुवों का लाल रंग मिट्टी पर फैल गया है। छोटा-सा गाँव केसर की क्यारी जैसा लगता है। कच्चे घर कंचन के पानी में डूब गये हैं।[3] प्रातःकालीन सूर्य सुनहले मोर की तरह नाचता है। फूल मुस्कराने लगते हैं। धरती संगीतमय हो जाती है। कभी कवि को दिन हिरन-सा चौकड़ी भरता दिखायी देता है कभी वह मौन पक्षी-सा नीम पर बैठा हुआ।[4] तात्पर्य यह कि केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'सूर्य', 'धूप', 'किरन', और 'दिन' की विविध छवियाँ अंकित मिलेंगी। प्रकृति-संसार में सबसे अधिक प्रेम उन्हें इन्हीं से है। यह ध्यान देने की वात है कि मुक्तिबोध की कविता में 'अँधेरा' शब्द का वहुत इस्तेमाल हुआ है और केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'धूप' का। यह दोनों कवियों की मनःस्थितियों का फर्क है। 'धूप' अज्ञेय का भी प्रिय प्रतीक है। उनकी कविता में यह प्रतीक एक मुक्त वातावरण की चाह व्यक्त करता है। कहना न होगा कि अज्ञेय की कविता व्यक्तित्व और स्वातन्त्र्य की खोज की कविता है। केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'धूप' उनके जीने की चाह व्यक्त करती है। उससे उनको जीवनी शक्ति मिलती है। वह उनके मन को एक दिव्य दीप्ति से भर देती है। उनकी कविता से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियाँ मेरे कथन को पुष्ट करेंगी—

धूप नहीं, यह
बैठा है खरगोश पलंग पर
उजला,
रोयेंदार, मुलायम—
इसको छू कर
ज्ञान हो गया है जीने का
फिर से मुझको।

× × ×

मुग्ध कमल की तरह
          पाँखुरी-पलकें खोले
कन्धों पर अलियों की व्याकुल
          अलकें तोले,

तरल ताल से
दिवस शरद के पास बुलाते
          मेरे मन में रस पीने की
          प्यास जगाते !

× × ×

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैके में आयी बेटी की तरह मगन है
फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है
जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं
... ...

अनावरण यह प्राकृत छवि की अमर भारती
रंग-बिरंगी पंखुरियों की खोल चेतना
सौरभ से मँह-मँह महकाती है दिगन्त को
मानव मन को भर देती है दिव्य दीप्ति से[5]

ऋतुओं में केदार को वसन्त प्रिय है। वसन्त में प्रकृति रूप, राग, रस और गन्ध से भर जाती है। चट्टानों में रंग और सागर में संगीत लहरें लेने लगता है। विकराल वनखण्डी लजवन्ती दूल्हन बन जाती है। धूप, हवा, मैदान, खेत, खलिहान, बाग—सबमें वसन्त निराकार मन्मथ-सा साँस लेता है। केदार की कविता में वसन्त के विविध रूप-चित्र अंकित मिलेंगे। वसन्त ही नहीं पूरी प्रकृति के चित्र। चाँद, चाँदनी, खेत, पोखर, नदी, पेड़, पक्षी, फूल, चना, सरसों आदि सबके चित्र। उनकी कविता में अपने आस-पास की धरती विविध रूपों में रूपायित मिलेगी—

एक बीते के बारबार
यह हरा ठिगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है
बीच में असली हठीली
देह की पतली, कमर की है लचीली,

...   .

और सरसों की न पूछो
हो गयी सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिये हैं
व्याह-मण्डप में पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे ।[6]

जब फागुन आता है तो केदार की धरती नाच उठती है। उस समय खेतों का दृश्य देखने लायक होता है—

आसमान की ओढ़नी ओढ़े
धानी पहने
फसल घँघरिया,
राधा बनकर धरती नाची,
नाचा हँस मुख
कृषक सँवरिया ।
माती थाप हवा की पड़ती
पेड़ों की बज
रही ढुलकिया,
जी भर फाग पखेरू गाते,
ढरकी रस की
राग-गगरिया ![7]

केदारनाथ अग्रवाल के प्रकृति-चित्रों में उनके भीतर का राग और उनका सौन्दर्य-प्रेमी हृदय छलक पड़ता है। प्रकृति-सौन्दर्य में उन्हें नारी-सौन्दर्य भी मिल जाता है। नारी के स्पर्श, आलिंगन और चुम्बन का सुख भी। प्रकृति कवि के सामने प्रेयसी के रूप में आती है। कभी वह धूप के रूप में आती है और दुपट्टा छत पर रख देती है। कभी वह खूबसूरत हवा-वल्लरी के रूप में आती है और कवि की देह-गाछ से लिपट जाती है। नदी कभी कवि को एक नौजवान ढीठ लड़की-सी लगती है जो पहाड़ से मैदान में आयी है। जिसकी जाँघ खुली हुई है और जिसने गजब की सुन्दरता पायी है। कभी वह उदास सोयी हुई लगती है जिसके ऊपर बादलों का वस्त्र पड़ा है। कवि उसे जगाता नहीं। उसे देखकर दबे-पाँव वापस लौट आता है। कभी वह एक मिलनातुर प्रेमी की भाँति उसे जगा देता है। उसे नाचने को कहता है ताकि वह उसे आलिंगन में बाँधकर चूम ले।[8] तात्पर्य यह कि केदारनाथ अग्रवाल के प्रकृति-सौन्दर्य में नारी-सौन्दर्य भी घुल-मिलकर एक हो गया है—

भूल सकता मैं नहीं
ये कुच-खुले दिन,

ओठ से चूमे गये
उजले, धुले दिन
जो तुम्हारे साथ बीते
रस-भरे दिन

× × ×

चोली फटी सरस सरसों की
लँहगा गिरा फागुनी नीचे
चूनर उड़ी अकासी नीली
नंगी हुई पहाड़ी देखो।[9]

ऊपर के चित्रों में नारी-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य का भेद कर पाना मुश्किल है। 'दिन' और 'सरसों' दोनों से केदारनाथ अग्रवाल को विशेष लगाव है। अवश्य यह उनकी उस मानसिकता को रेखांकित करता है जो उन्हें रूढ़ प्रगतिवादियों से अलग करती है। केदारनाथ अग्रवाल सौन्दर्य के कवि हैं। उनकी सौन्दर्य-चेतना बहुत संवेदनशील है। वे बड़े सहज ढंग से अपनी ऐन्द्रिक अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। छोटी-से-छोटी चीजों का बारीक निरीक्षण करते हैं। अपनी इस सौन्दर्य-संवेदना और अपने प्रकृति-प्रेम के बारे में केदारनाथ अग्रवाल खुद लिखते हैं, "मेरी कविताओं में शिल्प का सौन्दर्य मिलेगा। वह सौन्दर्य उसके स्थापत्य के शिल्प का सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य अनेक भाव-भंगिमाओं से अपने को व्यक्त करता है। उसकी अभिव्यक्ति अनेकरूपिणी है। जैसे हर सवेरा एक नये सौन्दर्य का सवेरा होता है, वैसे मेरी हर कविता एक नये सौन्दर्य की कविता होती है। मैंने प्रकृति को चित्र के रूप में देखा है। उसके सम्पर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौन्दर्य है। ध्वनियों की धारा है।"[10]

केदारनाथ अग्रवाल के लिए प्रकृति के प्रति आकर्षण शाश्वत के प्रति आकर्षण है—उस सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है जो व्यक्ति के न रहने के बाद भी बचा रह जाता है—

हम न रहेंगे
तब भी तो यह खेत रहेंगे;
इन खेतों पर घन घहराते
शेष रहेंगे;
जीवन देते,
प्यास बुझाते
माटी को मद-मस्त बनाते,
श्याम बदरिया के
लहराते केश रहेंगे।

प्रकृति का यह अनन्त सौन्दर्य कवि को नगर की व्यावसायिकता और जीवन की यान्त्रिकता की अपेक्षा अधिक आकर्षित करता है—

प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है
इस विजन में,
दूर व्यापारिक नगर से
प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।
× × ×
ट्रेन का टाइम नहीं है
मैं यहाँ स्वच्छन्द हूँ
जाना नहीं है।

प्रकृति के प्रति केदारनाथ अग्रवाल के इस आकर्षण का यह अर्थ नहीं कि वे प्रकृति की दुनिया में पलायन करनेवाले कवि हैं। दरअसल यह प्रकृति कवि को और भी मानवीय बनाती है। उसके भीतर के दम्भ को गलाकर उसे और भी संवेदनशील—

झाड़ी के एक खिले फूल ने
नीली पंखुरियों के
एक खिले फूल ने
आज मुझे काट लिया
ओठ से,
और मैं अचेत रहा धूप में।
× × ×
आज नदी बिल्कुल उदास थी,
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया
दबे पाँव घर वापस आया।
× × ×
दूब सिहरी
और गिर ही गया मोती
स्वप्न जैसा।
इस हवा को सह न पाया
दूब की सिहरन लिये मैं
लौट आया।

'फूल नहीं, रंग बोलते हैं' संग्रह की भूमिका में केदार लिखते हैं, "मेरी कविताओं में मेरा अनुभूत व्यक्तित्व तो है ही। साथ-ही-साथ उसमें युग-

बोध और यथार्थ-बोध भी है। प्रत्येक कविता आत्मान्वेषिणी होते हुए भी यथार्थान्वेषिणी भी है।" कवि के इस कथन के सन्दर्भ में उसकी 'उदास दिन' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ने लायक हैं—

यह उदास दिन
पेंसन पाये चपरासी-सा
और जुए में हारे जन-सा
आपे में खोये गदहे-सा
मौन खड़ा है।
रवि रोता है
माँ से बिछुड़े हुए पुत्र-सा।
धूप पड़ी है
परित्यक्त पत्नी-सी कातर।
पाँव कटाये
हवा लढ़ी पर लेटे-लेटे
धीरे-धीरे
अस्पताल की ओर चली है
सुबुक रही है!

केदारनाथ अग्रवाल का नाम प्रगतिवादी काव्यान्दोलन के साथ जोड़ा जाता है। निश्चय ही केदार की चेतना जनवादी है। वे अपनी कविता में सामान्य जन का पक्ष लेते हैं। उसके दुख-दर्द का बयान करते हैं। मेहनतकश जनता के विविध चित्र उनकी कविताओं में प्राप्त होते हैं। किसान युवक-युवतियों और मेहनतकश मजूरों के देह-चित्र बार-बार उभरते हैं। केदार अपने परिवेश से कभी अलग नहीं होते। बुन्देलखण्ड का प्रदेश, केन का सौन्दर्य बराबर विद्यमान रहता है उनमें। उनकी कविता एक विशिष्ट भारतीय जमीन की कविता है। उसमें अपनी धरती का रंग सबसे गाढ़ा है। अपनी 'कानपुर' शीर्षक कविता में वे कानपुर की सारी सत्ता और सारी माया को श्रमजीवी की सत्ता और श्रमजीवी की माया कहते हैं। 'बुन्देलखण्ड के आदमी' शीर्षक कविता में बुन्देलखण्ड के मामूली आदमी का पूरा रूप-चित्र पेश करते हैं। 'पैतृक सम्पत्ति' शीर्षक कविता में उस किसान के बेटे की हालत का बयान करते हैं जिसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में सिर्फ भूख मिली है। 'गाँव का महाजन' शीर्षक कविता में सूदखोर महाजनों द्वारा ग्रामीणों के शोषण का चित्रण करते हैं। 'नागार्जुन के बाँदा आने पर' शीर्षक कविता में वे बाँदा नगर और वहाँ के निवासियों का यथार्थ चित्र अंकित करते हैं। 'सबके लिए' शीर्षक कविता में केदार अपनी समूहवादी दृष्टि का परिचय देते हुए यह स्वीकार करते हैं कि अपनी-अपनी भिन्न इकाई का अब कोई मूल्य या दर्शन नहीं रह गया है। 'कटुई का गीत' और 'हथौड़े का गीत'

शीर्षक कविताओं के द्वारा वे सामान्यजन में साहस भरने की कोशिश करते हैं। उसे खायी को पाटने और बन्धन को काटने की सलाह देते हैं। तात्पर्य यह कि केदारनाथ अग्रवाल ने बहुत-सी ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिनके आधार पर उन्हें प्रगतिवादी काव्यान्दोलन के साथ जोड़ लेना सहज है। वे स्वयं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को सबसे अधिक वैज्ञानिक दर्शन मानते हैं। लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि राजनीति कविता नहीं है। राजनीति का सम्बन्ध देश के ऊपरी ढाँचे से है जबकि कविता आदमी के मस्तिष्क और उसके इन्द्रियबोध से सम्बन्धित है। (अपने एक साक्षात्कार में)। उनकी इस सन्दर्भ की कविताएँ कथ्य प्रधान कविताएँ हैं। इन कविताओं में उन्होंने कला-सौन्दर्य से अधिक महत्त्व सीधे कथन को दिया है। पर अगर केवल इन्हीं कविताओं को आधार बनाकर केदार का मूल्यांकन किया जायेगा तो उन्हें प्रगतिवादी तो साबित कर देना आसान होगा लेकिन उनके काव्य का और कवि का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष छूट जायेगा। वस्तुतः केदारनाथ अग्रवाल अपनी सौन्दर्य-चेतना और सूक्ष्म चित्रण-शक्ति के कारण प्रगतिवाद के दायरे को लाँघ जाते हैं और अपना एक दूसरा काव्य-संसार भी उजागर करते हैं। ऐसा करके वे छोटे नहीं होते न पलायनवादी। बल्कि सच कहें तो वे कुछ बड़े हो जाते हैं। असफलता के बीच सफलता और असुन्दरता के बीच सुन्दरता की खोज कवि को निश्चय ही बड़ा बनाती है—

> डूबा हूँ हर रोज
> किनारे तक आ-आ कर
> लेकिन मैं हर रोज
> उगा हूँ जैसे दिनकर,
> इससे मेरी असफलता भी मुझसे तारी
> मैंने अपनी सुन्दरता इस तरह सँवारी।

सन्दर्भ

1. फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ. 50
2. वही, पृ. 20-21
3. वही, पृ. 32-33
4. वही, पृ. 58-59
5. वही, पृ. 50, 62-63
6. वही, पृ. 17
7. वही, पृ. 31
8. वही, पृ. 52, 102, 122, 47, 53
9. वही, पृ. 57, 178
10. वही, भूमिका, पृ. 5

मिट्टी की महिमा का काव्य

एक अम्बुधि की व्यथा है
एक अम्बर की व्यथा है
और कण-कण की धरा पर
एक अपनी भी कथा है
वेदना-कन चुन यहाँ कवि ।
देख नभ में रवि-उदय भी
देख सागर है सदय भी
और नर के शुष्क-पथ पर
साथ है नारी-हृदय भी
आँख खोले चल यहाँ कवि ।

× × ×

देख महलों की ऊँचाई
रक्त से किसने रचायी
विश्व तुझसे चाहता है
जानना इसकी सचाई
बात सच्ची कह यहाँ कवि ।
स्वर्ण सौधों का उजेरा
दीन कुटिया का अँधेरा
है जहाँ निशि व्याप्त कब से
पर नहीं होता सवेरा
ज्योति बन तू जल यहाँ कवि ।

उपर्युक्त पंक्तियाँ शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'कवि' शीर्षक कविता[1] से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में सुमनजी (1915 ई.) ने कवि से कुछ माँग की है। उनकी यह माँग स्वयं अपने भीतर के कवि से भी है और कहना न होगा कि उनकी कविता यह माँग पूरी करती है।

सुमन की कविता किसी एक दिशा में नहीं चलती। उसका अनुभव-संसार व्यापक है। उसमें निजी सुख-दुख भी है और वाह्य वास्तविकता भी। राष्ट्रीयता भी है और अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वर भी। नवीनता के प्रति आकर्षण भी है और पुरातन की स्वीकृति भी। और इन सबके ऊपर एक आशा, आस्था, उत्साह तथा प्रगतिशील दृष्टि है जो कवि को मिट्टी की महिमा की ओर आकर्षित करती है।

सुमन की कविता में उनकी रोमैण्टिक प्रवृत्ति स्पष्ट है। रोमैण्टिसिज्म की स्वच्छन्दता, विद्रोह और सौन्दर्यवादी रुझान उनकी कविता की विशेषता है। प्रेम और सौन्दर्य उनकी बहुत-सी कविताओं का केन्द्रीय विषय है। सुमन के प्रेमगीतों में संयोग और वियोग के मार्मिक चित्र प्राप्त होते हैं। इन सुख-दुखात्मक मन:स्थितियों के साथ प्रकृति का मेल बड़ा सजीव हुआ है—

साँझ ढली नभ के कोने में
कारे मेघा छाये
ये विरहिन के ताप, काम के शाप
गरज, इतराये
दीप छिपाये चली समेटे निशा दिशा का आँचल
आज रात-भर बरसे बादल।

× × ×

आज अटारी पै छाई घटा
सई-साँझ लगी अनटूटी झरी
आज की रात तो राम ही मालिक
लोनी लता पै गाज गिरी
छान की बान टपाटप चू रही
बीजु की कौंध डरावनी री
आज की साँझ सलौनी बड़ी मन भावनी री।[2]

सुमन के काव्य में प्रकृति का आकर्षक रूप-चित्र बहुत मिलता है। सन्ध्या, प्रभात, फागुन, सावन, वर्षा, शरदपूर्णिमा, मधुऋतु, मलयपवन आदि का मनोरम वर्णन उनकी कविताओं में हुआ है। इनमें भी मलयपवन और वसन्त तो उनकी कविता में बार-बार आते हैं—

आ गया बसन्त बह चला समीर मद-शिथिल
मधुर, मधुर, मधुर।
फिर पलाश डाल-डाल लाल लौ जली,
आम्र की उमंग अंग-अंग में पली
पात-पात झूम चूमता कली-कली,

गन्ध-अन्ध गुनगुना उठा मधुप मचल-मचल
किधर, किधर, किधर ।[3]

'विन्ध्य-हिमालय' (1966 ई.) संग्रह की एकाधिक कविताओं में मालवा और हिमालय के उदात्त नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। इस दिव्य प्राकृतिक सुषमा से कवि का मन अभिभूत है। शिप्रा और नर्मदा की तरंगें तथा हिमालय की विराट शुभ्रता उसके मन में बस गयी है। प्रकृति का यह सारा मनोहारी वर्णन कवि सुमन की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचायक है।

शिवमंगल सिंह सुमन प्रगतिशील चेतना के कवि हैं। हिन्दी के प्रगतिवादी आन्दोलन में उनकी कविताओं का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी कविताओं में शोषक और शोषित वर्गों के बीच की खाई को महसूस किया है—

बिक रहा पूत नारीत्व जहाँ
चाँदी के थोथे टुकड़ों में
कर्त्तव्य पालता धनिक वर्ग
मदिरा के जूठे चुकड़ों में
इस ओर पड़ी खानाबदोश
मेहनतकश मानव की पाँतें
फुटपाथों की चट्टानों पर
जो काट रहीं अपनी रातें[4]

इस खाई को जन्म देनेवाली साम्राज्यवादी-फासीवादी शक्तियों के प्रति उन्होंने आक्रोश व्यक्त किया है—

साम्राज्यवाद का गढ़ विदीर्ण
फ़ासिस्तवाद पर गिरी गाज
अवकाश सोचने का न रहा
बढ़ चलो समर का सजो साज
अपने अतीत की कालिख तो
लोहू की लाली से धो दो
युग-युग से बन्दी मानव को
करना है तुमको मुक्त आज ।[5]

'प्रलय-सृजन' (1944 ई.) संग्रह की 'सोवियत रूस के प्रति', 'मास्को अब भी दूर है', 'स्तालिनग्रेद' तथा 'लाल सेना' आदि कविताओं में सुमन ने पूंजीवादी ताकतों का विरोध तथा सर्वहारा का समर्थन किया है। धर्म की विडम्बना उन्हें ज्ञात है इसीलिए वे धार्मिक आडम्बरों का विरोध करते हैं। उन्होंने अपने प्रिय नेता नेहरू की तरह आधुनिक यन्त्रों को अध्यात्म का दर्जा दिया है—

उपनिषदों का नया संस्करण
मुद्रित आज कराओ,
जगा सको तो बन्धु
मशीनों का अध्यात्म जगाओ।
फैक्टरियों की ऊर्ध्व चिमनियों की
आत्मा पहचानो,
दग्ध भट्ठियों की दहकन में
ब्रह्म तेज अनुमानो।[6]

सुमन की दृष्टि समूहवादी दृष्टि है। वे कवि की साधना को युग-जीवन के लिए मानते हैं—

जो लिख रहा हूँ आज मैं
जो दिख रहा हूँ आज मैं
उसमें अगर झलके न तुम
तो व्यर्थ सब आराधना।[7]

ऊपर की पंक्तियों में सुमन ने जिसे 'तुम' कहकर सम्बोधित किया है वह और कोई नहीं बल्कि वही मामूली आदमी है जो समाज में सदा से उपेक्षित रहा है। यह वही आदमी है जो अपने श्रम से दुनिया का भरणपोषण करता है, फिर भी एक नाटकीय जिन्दगी जी रहा है—

कीचड़-कालिख से सने हाथ
इनको चूमो
सौ कामिनियों के लोल कपोलों से बढ़कर
जिसने चूमा दुनिया को अन्न खिलाया है
आतप-वर्षा पाले से सदा बचाया है।[8]

यह एक बदला हुआ सौन्दर्यबोध है जिसे हिन्दी में प्रगतिशील काव्यान्दोलन के साथ महत्त्व मिला। सुमन की कविता में इस उपेक्षित सौन्दर्य को पर्याप्त महत्त्व मिला है। 'प्रलय-सृजन' नामक संग्रह की 'चल रही उसकी कुदाली' और 'गुनिया का यौवन' शीर्षक कविताओं में इसी उपेक्षित सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। इस प्रसंग में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सुमन के काव्य में कृषि जीवन की शब्दावली और कृषक तथा मजदूर जीवन के चित्र बहुत अधिक हैं। मेड़ बाँधना, खेत जोतना, खेत बोना, सिंचाई करना, बादलों का खेतों में बरसना, फसल लहलहाना आदि प्रयोग सुमन की कविता में बार-बार होते हैं। देशज शब्दों का प्रयोग उन्होंने बहुत किया है। बगिया, कोयलिया, गदराना, सँवरिया, बँसुरिया, साँझ, आँचर, सिंगार आदि बहुत-से शब्द इसी प्रकार के हैं। कुछ कविताओं में सुमन ने लोक-धुनों का भी प्रयोग किया है। यह सब इस बात का प्रमाण है कि सुमन की कविता में लोकजीवन के प्रति एक गहरा आकर्षण प्राप्त होता है।

इस प्रसंग में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सुमन के काव्य में 'मिट्टी' शब्द का इस्तेमाल बहुत हुआ है। यह शब्द समूची भौतिक वास्तविकता और सम्पूर्ण लोकजीवन का अर्थ देता है। कवि ने मिट्टी को अविनश्वर माना है—

सौ बार बने सौ बार मिटे लेकिन मिट्टी अविनश्वर है।

× × ×

मिट्टी मिट्टी पर मिटती है
मिट्टी मिट्टी को रचती है
मिट्टी में स्वर है, संयम है, होनी अनहोनी कह जाये[9]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' का एक काव्य-संग्रह है 'मिट्टी की बारात' (1972 ई.)। यह काव्यग्रन्थ सचमुच मिट्टी की महिमा का गीत है—

मिट्टी सदा क्वाँरी है उसमें है अनन्त रस

× × ×

मिट्टी कभी मिटती नहीं, मिट्टी कभी मिटती नहीं।[10]

मिट्टी अर्थात् 'धरती', 'मही', 'वसुधा', 'वसुन्धरा', 'रसा', 'धरित्री', 'धरा' आदि। शायद ही कोई ऐसा काव्य-संग्रह हो जिसमें मिट्टी के इतने पर्याय एक साथ उपस्थित हों। कवि ने मिट्टी की समस्त संचित संवेदना को जगाने का प्रयास किया है—

जाने इस कलशी में
क्या है छिपा गूढ़ मौन
राशि राशि संवेदन।

जिस मिट्टी में राशि-राशि संवेदन है वह जड़ नहीं हो सकती। उसका अपना अनुभव-संसार है—

मिट्टी, मिट्टी का स्पर्श
इतना सुखद होता है?
मूक अश्रुविन्दुओं में
इतनी विशद व्यंजना!

'मिट्टी की बारात' संग्रह में 'मिट्टी' शब्द का अपने अनेक पर्यायों सहित इतनी बार प्रयोग आकस्मिक नहीं है। यह एक शब्द कवि के बहुत सारे रचनात्मक संकेतों को उद्घाटित करता है। सामान्य व्यवहार में 'मिट्टी' शब्द का प्रयोग प्रायः किसी महत्त्वहीन नाचीज वस्तु के लिए किया जाता है। 'मिट्टी में मिल जाना' या 'मिट्टी के भाव विकना' जैसे मुहावरे प्रचलित मुहावरे हैं। कभी-कभी यह शब्द जड़ता-बोधक भी हो जाता है, जैसे 'माटी की मूरत'। आम व्यवहार में इस शब्द का सम्बन्ध प्रायः 'शरीर' के साथ जोड़ा जाता है, जैसे 'मिट्टी का तन मिट्टी में मिल जायेगा।' प्रस्तुत काव्य-संग्रह में कवि ने लोक-व्यवहार से उठाकर इस शब्द को

महिमा-मण्डित किया है। कवि के कोश में 'मिट्टी' जड़ नहीं, चेतन है। 'उसमें रोम न हों पर रोमरन्ध्र तो होते ही हैं।' उसका एक सजीव अनुभव-संसार होता है। 'मिट्टी की बारात' शीर्षक कविता में कवि ने जवाहरलाल और कमला के फूलों (अन्तिम अवशेषों) को गंगा की धारा में एक साथ मिलाकर मिट्टी के इस सजीव अनुभव-संसार को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। मिट्टी और मिट्टी का स्पर्श कितना सजीव, ऐन्द्रिय और संवेदनशील होता है! नर-नारी के प्रथम आलिंगन की तरह। करुणा (पैथॉस) के मिश्रण ने 'मिट्टी की बारात' शीर्षक कविता को अत्यन्त मार्मिक और मानवीय बना दिया है। जवाहर और कमला का फूल किसी विशिष्ट महिमामण्डित व्यक्ति का फूल नहीं रह गया है—

व्यक्ति की विशिष्टता का
व्यर्थ है बखान यहाँ
अर्घ दे रही समष्टि
अमर प्राणधारा को
हम तुम हैं ब्याज मात्र
यथाशक्ति काम किया
छुट्टी ली, चिर विराम
राम राम।

यह कवि की समूह दृष्टि या मानवीय दृष्टि है जो जवाहर और कमला की बारात को 'मिट्टी की बारात' के रूप में सार्थक करती है और त्रिवेणी की धारा को सामान्य जीवन-धारा का पर्याय बना देती है—

जनरव का ज्वार या
त्रिवेणी का कोलाहल ?
समझ गयी, समझ गयी
संगम है, संगम है
यहाँ सभी मिलते हैं
नारी नर, पुण्य पाप
वर और शाप
संगम है, संगम है
गंगा का, यमुना का
गत-आगत-अधुना का।

× × ×

जन जन के गालों पर
विगलित जो बहता है
धरती का सबसे अनमोल
वही मोती है

मानवीय मार्मिक
संवेदना की धरोहर
स्वर्ग लोक में अलभ्य
धन्य है इसी से धरा
विश्वम्भरा।

कवि ने कीचड़-कालिख से सने हाथों, श्रम सीकर से लथपथ चेहरों और कुशकंटक से क्षतविक्षत पगों को चूमने के लिए कहा है। मिट्टी को गौरवान्वित करने का अर्थ है सामान्य जन को गौरवान्वित करना। मिट्टी से प्यार सामान्य जिन्दगी से प्यार है। प्रस्तुत संसार से प्यार। इसीलिए सुमन की कविता पाठक को किसी तीसरे संसार की ओर नहीं ले जाती। उसमें आषाढ़ की उमड़ी घटाएँ हैं। तपन है, बौछार है। गेहूँ की फसलें हैं, पलाश के पत्ते हैं। चैतिया प्रभात है, भिनसार गन्ध है। फागुन की पूर्णिमा और बैसवाड़े के बलुहे खेत हैं। जर्जर शरीर, गड्ढों में धँसी आँखें, मिट्टी के कच्चे घर, मुँडेर, टूटी छाजन, अरगनी, अँगना, डेहरी आदि सबकुछ हैं। तात्पर्य यह कि सुमन की कविता में प्रस्तुत संसार का रूपाकर्षण—रंगों और ध्वनियों सहित पूरा दृश्यखण्ड—प्राप्त होता है।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविता में 'बीज', 'अंकुर', 'गदराना', 'लहराना', 'थिरकना' जैसे आशा और आस्थावादी शब्दों का भी बहुल प्रयोग हुआ है। यह कवि की आस्था, आशा और उसके संकल्प को प्रकट करते हैं। सुमन की कविता में कहीं भी निराशा का भाव नहीं मिलता। प्रस्तुत संसार में उनकी आस्था है और उसके प्रति उनका दृष्टिकोण आशावादी है। वे मनुष्य के कर्म और उसके संकल्प में विश्वास रखते हैं—

घेरे है चारों ओर मुझे
मेरी सीमा की आकुलता
तन मन बन्धन में जकड़े से
पग पग पर बिखरी असफलता
जीवन क्या है ? क्यों मिला मुझे ?
यह प्रश्न उठा ही करता है
हँस हँस पड़ती है बार बार
मुझ पर मेरी ही चंचलता
फिर भी मैं मस्तक उन्नत कर
पग आगे धरता जाता हूँ
मैंने मानव-तन पाया है
मैं सुख-दुख के आघातों को
हँसते हँसते ही सह लूँगा।

× × ×

मैंने केवल जाना, मानव
उन्नत जीवन का श्रेष्ठ मान
उसके ही कण्ठों से निःसृत
भावी समृद्धि के अनल गान
यह स्वर्ग नर्क यह पाप पुण्य
उसके ही हाथों की रचना
वह कर्त्ता हर्त्ता स्वयं उसे क्या
सृष्टि प्रलय मानापमान[11]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने बहुत सी कविताएँ महापुरुषों के सम्बन्ध में भी लिखी हैं। रवीन्द्र, निराला, प्रेमचन्द, गांधी, नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, मदनमोहन मालवीय, पुश्किन और लेनिन आदि के सम्बन्ध में लिखी गयी कविताएँ इसी प्रकार की हैं। कुछ कविताएँ यात्राओं और किन्हीं विशेष यात्रास्थलों से भी सम्बन्धित हैं जैसे चेरापूंजी, बौद्धगया, मारिशस आदि। ये कविताएँ प्रायः किन्हीं विशेष अवसरों पर सायास लिखी गयी कविताएँ हैं और इनमें एक-दो को छोड़कर शेष इतिवृत्तात्मक हैं। इन कविताओं में कवित्व की अपेक्षा महापुरुषों की महत्त्व-स्वीकृति अधिक है। विशिष्ट अनुभूतियों के अभाव में ये कविताएँ मर्म को छूने में असमर्थ हैं। सुमन की कुछ प्रेम-सम्बन्धी अति रूमानी कविताएँ भी हैं जिनमें आवेश अधिक है, अनुभूति के स्तर पर थिराव और गहराई कम। इसी प्रकार सुमन ने कुछ व्यंग्यप्रधान कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें देश की दुर्दशा के चित्र हैं। ये कविताएँ भी वर्णनात्मक हैं और छन्द के बावजूद गद्य के अधिक निकट हैं। किसी गहरे अहसास का अभाव इन कविताओं को प्रभावहीन साबित करता है। जीवन और यथार्थ का गहरा बोध विशिष्ट अनुभूतियों को जन्म देता है। फिर भाषा विशिष्ट होती है और कविता अर्थवान हो जाती है। कोई भी कविता 'रचना' या 'कृति' तभी होती है, जब सचमुच वह कुछ रचती है और तभी वह सार्थक भी होती है, प्रभावोत्पादक भी। यह शुभ है कि सुमन ने ऐसी कविताएँ कम ही लिखी हैं जो इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक या गद्यात्मक हैं। प्रेम की निराशामूलक कविताएँ भी सुमन ने नहीं लिखीं। वे अपने समकालीन कुछ अन्य कवियों की तरह नये काव्यान्दोलनों के चक्कर से भी मुक्त हैं। उनकी अधिकांश कविताएँ अपनी असली जमीन पर हैं। उन्होंने एक सही जमीन पर अर्थात् आशा, आस्था और प्रगतिशीलता की जमीन पर खड़े होकर मिट्टी की समस्त संचित संवेदना और सम्भावना को उजागर करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ

1. दे., विश्वास बढ़ता ही गया (काव्य-संग्रह)
2. पर आँखें नहीं भरीं, पृ. 23, 26
3. विन्ध्य-हिमालय, पृ. 26
4. प्रलय-सृजन, पृ. 8
5. वही, पृ. 56
6. विन्ध्य-हिमालय, पृ. 49
7. पर आँखें नहीं भरीं, पृ. 69
8. मिट्टी की बारात, पृ. 13
9. पर आँखें नहीं भरीं, पृ. 34-35
10. मिट्टी की बारात, पृ. 51-52
11. प्रलय-सृजन, पृ. 15-16

खुशबू का शिलालेख

भवानीप्रसाद मिश्र (1914 ई.) की कविता की अपनी अलग विशिष्टता है जो पढ़ते या सुनते ही पहचानी जा सकती है। न कोई उसे चुरा सकता है, न उसकी नकल कर सकता है। नकलबाजी में आज के न जाने कितने कवि दम तोड़ रहे हैं। उनके नाम हटा दिये जायें तो उनकी कविताओं की शिनाख्त कर पाना मुमकिन नहीं। जब कविता की शिनाख्त नहीं हो पाती तो उसके रचयिता की भी नहीं हो पाती। कविता ही कवि को व्यक्तित्व देती है यदि वह स्वयं (कविता) व्यक्तित्वसम्पन्न हो। एक खास समय में कविताओं का एक खास ढर्रा चल पड़ता है। बहुत-से कवि उस ढर्रे का अनुकरण कर जल्दी चर्चित हो जाते हैं। पर उनका असर भी जल्दी समाप्त हो जाता है। जो कवि अपनी कविता को उस खास ढर्रे से बचा ले जाता है वह बड़ा कवि होता है। उसकी कविता का अपना अलग वजूद भी होता है और अपेक्षाकृत स्थायी असर भी। कहना न होगा कि नयी कविताओं की भीड़-भाड़ में भवानी भाई की कविता का अपना एक अलग और आकर्षक व्यक्तित्व है।

'शैली ही मनुष्य है' (स्टाइल इज़ द मैन)—यह कथन जितना भवानीप्रसाद मिश्र की कविता के सन्दर्भ में सच है उतना शायद किसी अन्य नये कवि की कविता के सन्दर्भ में नहीं। भवानी भाई की कविता सबसे पहले (और सबसे अन्त में भी) एक बातचीत है—झरने की तरह बहती एक बातचीत—

> कभी-कभी छोड़ जाता है
> कोई आदमी चीजें नहीं बातें
> काट देते हैं जिनके सहारे
> बाद के लोग
> अँधेरी से अँधेरी रातें।

'बुनी हुई रस्सी' (1971) की भूमिका में भवानी भाई लिखते हैं, "लिखना

आखिरकार मेरा बोलना है। मैं जो लिखता हूँ उसे जब बोलकर देखता हूँ और बोली उसमें बजती नहीं है तो मैं पंक्तियों को हिलाता-डुलाता हूँ। बोलचाल हिन्दी की मेरी ताकत है।"[1]—सचमुच इस ताकत का भरपूर इस्तेमाल भवानी भाई ने किया है। उनकी मुद्रा कहीं सम्बोधन की है, कहीं प्रश्नकर्त्ता की है। कहीं वे चुटकी लेते हैं, कहीं मजाक करते हैं। 'हाँ', जी हाँ', 'यानि कि', 'देखो', 'बोलो', 'करो', 'सुनो', जैसे प्रयोग बीच-बीच में एक दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति को मूर्त करते रहते हैं। नाटकीयता, बयान के बाँकपन और आत्मीयता से पूरी कविता खिल उठती है—

क्या चाहती हो तुम
मुझसे
भई, पुरानी यादो
आलम ठण्ड का है
और चुप कर दिया है
सख्त सरदी ने
× × ×
भाई पाँवो
गाँवों-गाँवों फिरने की
जिद छोड़ो
टहलो अब धीरे-धीरे
यहीं कमरे में
या कमरे से बाहर जरा
लॉन में[2]

ग़ालिब की तरह भवानी भाई का भी अन्दाजेबयाँ और ही है। उनके वाक्य इस कदर बलखाते-लहराते हैं कि पढ़ने में चूक हो जाय तो सारा अर्थ-गौरव किरकिरी हो जाय। इसीलिए खुद भवानी भाई ने अपनी कविताओं को पठ्य से अधिक श्रव्य कहा है—

सुनायें ?
भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ ?
... ...
मगर भाई,
ये पठ्य उतनी नहीं हैं
जितनी श्रव्य हैं।[3]

बोलचाल की भाषा में गहरी-से-गहरी बात कह जाना भवानी भाई की विशेषता है। वे शब्दों का जो कमल फूल लेकर पाठक के सामने उपस्थित होते हैं वह मानसर का फूल है। वह भी तीर से लाया हुआ नहीं, बीच से लाया हुआ। जिस कवि का अनुभव और चिन्तन स्पष्ट होता है, उसकी

भाषा भी साफ और सहज होती है। भाषा का उलझाव अनुभव का उलझाव है। भवानी भाई की अभिव्यक्ति प्रयत्नसाध्य या कृत्रिम नहीं है। वह अत्यन्त सहज है—निर्मल और प्रवाहपूर्ण, जैसे मैदान में उतरी हुई नदी। इस सन्दर्भ में 'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में वे कहते हैं, "कवि और कविता के बारे में जितनी बातें प्रायः कही और लिखी जाती हैं, उनके आसपास जो प्रकाशमण्डल खींचा जाता है और उन्हें जो रोजमर्रा मिलने-वाले आदमियों और उनकी कृतियों से कुछ अलग स्वभाव, प्रेरणाओं और सामर्थ्यों की चीज़ माना जाता है, वैसा कम-से-कम अपने बारे में मुझे कभी नहीं लगा।...वर्डस्वर्थ की एक बात मुझे बहुत पटी, कि 'कविता की भाषा यथासम्भव बोलचाल के करीब हो।'...प्रायः प्रारम्भ की एक रचना में (कवि से) मैंने बहुत-सी बातें की थीं : दो लकीरें याद हैं—

> जिस तरह हम बोलते हैं
> उस तरह तू लिख;
> और उसके बाद भी
> हमसे बड़ा तू दिख।

...कदाचित् इसीलिए मैंने अपनी कविता में प्रायः वही लिखा है जो मेरी ठीक पकड़ में आ गया है। दूर की कौड़ी लाने की महत्त्वाकांक्षा भी मैंने कभी नहीं की।...बहुत मामूली रोजमर्रा के सुख-दुख मैंने इनमें कहे हैं जिनका एक शब्द भी किसी को समझाना नहीं पड़ता। 'शब्द टप-टप टपकते हैं फूल से; सही हो जाते हैं मेरी भूल से'।"[4]

ऊपर उद्धृत कवि का लम्बा वक्तव्य सहजता के प्रति उसके आग्रह का प्रमाण है। सहज कविता का आग्रह कुल मिलाकर सहज जीवन का ही आग्रह है। छायावादी युग में लिखते हुए भवानी भाई छायावाद की कृत्रिमता और उसके आलंकारिक आडम्बरों से मुक्त हैं। लोक-सम्पृक्ति उनकी कविता की खासियत है। लोकजीवन और ग्राम्य प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र उनकी कविता में देखे जा सकते हैं—

> खेतों में सरसों फूल उठी, जंगल में टेसू हुआ लाल।
> जो हवा अभी तक चंचल थी, उसकी धीमी हो गयी चाल।
> अब तक की सूनी अमराई में उतर पड़ी जैसे बरात।
> बँध गया मौर, हो गया और, उस बड़े आम का पीत गात।
> किरनों का सोना बिखर गया लहरों पर चढ़ा नया पानी।

भवानी भाई की कविता में बिना किसी घोषित मतवाद या नारेबाजी के' सामान्यजन का चित्रण हुआ है—

> तंग गलियों में कहीं बच्चे खड़े हैं
> लाल हैं पर भाग पत्थर से लड़े हैं

धूल के हीरे नहीं अब धूल हैं ये
फूल जंगल के नहीं अब शूल हैं ये

'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में वे लिखते हैं, "छोटी-सी जगह में रहता था, छोटी-सी नदी नर्मदा के किनारे, छोटे-से पहाड़ विन्ध्याचल के आँचल में, छोटे-छोटे साधारण लोगों के बीच। एकदम घटना-विहीन, अविचित्र मेरे जीवन की कथा है। साधारण मध्यवित्त के परिवार में पैदा हुआ, साधारण पढ़ा-लिखा और काम जो किये वे भी असाधारण से अछूते।"[5] कहना न होगा कि भवानी भाई की कविता में यही साधारण जीवन चित्रित है। 'अंधेरी कविताएँ' (1968) संग्रह की एक कविता 'चलते-चलते' में उन्होंने इसी तथ्य को स्वीकार किया है।

भवानीप्रसाद मिश्र की कविता चिन्तन से अधिक अनुभूति होती है। वे चिन्तन को अपनी अनुभूति बनाकर प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए उनकी काव्य-संवेदना गीतात्मक है। तुक और लय उनकी कविता के विशेष आकर्षण हैं। वे नयी कविता के एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनकी कविता तुक और लय को छोड़कर आगे नहीं बढ़ती। शब्द के प्रति सचेतता उनमें बहुत है। वे शब्दों के सिद्ध कलाकार हैं। उनकी पंक्तियाँ और उनकी छोटी कविताएँ विशेष रूप से मन्त्र-जैसी लगती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भवानी भाई ने परिचित शब्दों को गहरा अर्थ दिया है। अत्यन्त साधारण शब्दों में भी कविता पैदा करने की कोशिश की है। वे शब्द के सही उपयोग को 'योग' मानते हैं[6] और कवि को शब्द के लिए सबकुछ कुर्बान करने के लिए तैयार रहने की सलाह देते हैं—

शब्दकार को
अगर ज़रूरत पड़े
तो अपने शब्दों पर
मरना चाहिए।

'बुनी हुई रस्सी' की भूमिका में वे लिखते हैं, "कविता लिखते समय मेरा मन और मन ही नहीं समूचा अस्तित्व शब्दों से ध्वनित होनेवाली झंकार से काँपता रहता है। ये झंकारें कभी अकेली-अकेली बजती हैं, कभी समवेत होकर समुदायों में। इसीलिए मैं कविता के सन्दर्भ में अपने को शब्दों की रौ में बहनेवाला कोई व्यक्ति सोचता हूँ और कई बार जब लोगों को अपनी भाषा के प्रवाह का आनन्द लेते हुए भी नहीं देखता तो लगता है, मेरी रचनाओं को उनका पहला अभिप्रेत भी नहीं मिला।"[7]

भवानीप्रसाद मिश्र की कविता में प्रकृति-संसार के चित्र बहुत हैं। पहाड़, नदी, वर्षा, सूरज, चाँद, लहर, इन्द्रधनुष, किरण, घास, चिड़िया, कली, फागुन, सन्ध्या आदि के रूप-चित्रों से उनका काव्य भरा पड़ा है। 'गीतफरोश' (1956) संग्रह की अधिकांश कविताएँ प्रकृति-वर्णन से

सम्बन्धित हैं। 1939 में लिखी गयी 'सतपुड़ा के जंगल' शीर्षक कविता मिश्रजी की कविताओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। विन्ध्य, सतपुड़ा, रेवा और नर्मदा के सौन्दर्य ने भवानीप्रसाद मिश्र को बहुत आकर्षित किया है। इनके अनेक चित्र उनकी कविताओं में मिलेंगे। इसी प्रकार वर्षा के प्रति भी कवि के मन में विशेष आकर्षण है। वर्षा के बादलों को देखकर उसका मन बच्चे की तरह किलकारी भरने लगता है। प्रकृति के प्रति भवानीप्रसाद मिश्र की दृष्टि छायावादी दृष्टि नहीं है। भावाकुल होकर प्रकृति का आलंकारिक वर्णन वे नहीं करते बल्कि उसका आत्मीय वर्णन करते हैं। यद्यपि उन्होंने कालिदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे सौन्दर्य-चेतना के कवियों का अपने ऊपर प्रभाव स्वीकार किया है और उनकी ही सूक्ष्म दृष्टि का परिचय भी अपनी कविताओं में दिया है, फिर भी वे प्रकृति के यथार्थवादी अनगढ़ रूप को नजरअन्दाज नहीं करते। प्रकृति के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि सहज दृष्टि है जो बड़े आत्मीय ढंग से प्रकृति के विविध रूपों का निरीक्षण करती है। उस पर किसी मतवाद का मुलम्मा नहीं चढ़ा होता है। न छायावाद का, न प्रगतिवाद का। दरअसल भवानी भाई किसी वाद के कवि नहीं हैं—

हम क्यों खेमों में बँटे रहें
हम क्यों आपस में कटे रहें
हम क्यों न शब्द को सार्वजनिक ताकत मानें
हम क्यों उसको वादों की झंझट में डालें

उनकी कविता में यथार्थ का चित्रण हुआ है। सामाजिक विषमता का, अन्याय का, शोषण का चित्रण हुआ है। मध्यवर्गीय जीवन के द्वन्द्वों और कुण्ठाओं का चित्रण हुआ है। नये जीवन की विडम्बनाओं का चित्रण हुआ है। आज की कटु स्थितियों और अन्तर्विरोधों पर व्यंग्य हुआ है—

आँखें उठाओ
देखो आकाश नीला है
हल्के लाल बादल हैं
चाँद गहरा पीला है
अच्छी शाम है
हवा रुकी है
पंछी गा रहे हैं
मगर
इस सबसे क्या होगा
मुझे चेटियार साहब बुला रहे हैं
× × ×

ना, निरापद कोई नहीं है
ठीक आदमकद कोई नहीं है
न तुम, न मैं, न वे
न वे, न मैं, न तुम
कोई है, कोई है, कोई है ?
जिसकी जिन्दगी दूध की धोई है ?

× × ×

बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ
भाषण होते हैं अंग्रेजी में गांधी पर
बजती हैं जोर-जोर से तालियाँ ! !

उनकी 'गीतफरोश' शीर्षक प्रसिद्ध कविता तीखे व्यंग्य का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। एक कलाकार कवि का गीतफरोश (गीत बेचनेवाला) बन जाना कला और समाज दोनों पर मार्मिक व्यंग्य है—

जी, छन्द और बेछन्द पसन्द करें
जी, अमरगीत और वे जो तुरत मरें
ना, बुरा मानने की इसमें क्या बात
मैं ले आता हूँ कलम और दावात
इनमें से भाएँ नहीं,—नये लिख दूँ
जी, नये नहीं चाहिए, गये लिख दूँ
मैं नये-पुराने सभी तरह के गीत बेचता हूँ।

तात्पर्य यह कि भवानीप्रसाद मिश्र की दृष्टि प्रगतिशील दृष्टि है पर इसके बावजूद वे किसी खास मतवाद में दीक्षित नहीं हैं। वे किसी वर्ग के कवि नहीं बल्कि समूची इन्सानियत के गायक हैं। उनकी कविता में एक खास निजीपन है। वह उनके व्यक्तित्व और उनकी अनुभूति के संस्पर्श से बड़ी आत्मीय लगती है। पर इसके लिए उस पर व्यक्तिवादिता का आरोप लगाना निराधार है। इस सम्बन्ध में स्वयं कवि का कथन है—

खाली दुनिया जैसे कहीं बँधी है पहाड़ों से
घिरी है जैसे कहीं झाड़ों से या समुद्र की शृंखला से
ऐसे ही बँधा है मेरा मन यहाँ कर्तव्य से वहाँ आदर्श से
अभी इसके शोक से अभी उसके हर्ष से
मैं इस अर्थ में स्वतन्त्र नहीं हूँ, होना भी नहीं चाहता
कितनी चीजों से बँधकर खुलता हूँ मैं
कितनी चीजों के बल पर ठीक अभिव्यक्त होता हूँ मैं
अभी आँसू अभी रक्त होता हूँ मैं।[8]

भवानीप्रसाद मिश्र विचारों में गांधीवादी हैं। 'गांधी पंचशती' (1969) में उनकी ऐसी बहुत-सी कविताएँ संगृहीत हैं जो गांधी की मान्यताओं से

प्रभावित होकर लिखी गयी हैं। वे गांधी की तरह 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। गांधी की ही तरह आस्तिक हैं—

जिओ और जीने दो
प्रभु बरसा रहे हैं जो सुधा
सो सबको पीने दो।

× × ×

हमारे अविश्वास करने से
भगवान मर नहीं पाता
हम न डरें उससे तो इससे
वह डर नहीं जाता
बल्कि मर जाते हैं हम उसी क्षण जब
भरोसा उठ जाता है हमारा।[9]

'दूसरा सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में वे लिखते हैं, "दर्शन में अद्वैत, वाद में गांधी का और टेकनीक में सहज-लक्ष्य ही मेरे बन जायें, ऐसी कोशिश है।"

डा. भगीरथ मिश्र के शब्दों में, भवानीप्रसाद मिश्र की चेतना 'मूलतः आशावादी और कर्मण्यतापरक' है।[10] यह उल्लेखनीय है कि नयी कविता में जो निराशा, अनास्था, अजनबियत, अकेलापन, कुण्ठा और सन्त्रास दिखायी पड़ता है, वह भवानी भाई की कविताओं में नहीं मिलेगा। उनकी कविता श्रम और कर्म के महत्त्व का बखान करती है। वह मस्ती, आशा और उल्लास का बयान करती है—

याने जो ख्याल को
दुख में बदलना चाहते हैं
वे उसे अवकाश से जोड़ते हैं
जो बदलना चाहते हैं उसे जिन्दगी में
दे देते हैं वे उसे काम !

× × ×

उठो सिमटकर बहते हुए जीवन में उतरो
घाट से हाट तक
हाट से घाट तक
आओ जाओ
तूफान के बीच में गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर।

'अँधेरी कविताएँ' संग्रह में मृत्यु के साक्षात्कार की कविताएँ हैं। उसकी अनेक कविताओं पर मृत्युबोध की छाया मँडराती है। दरअसल इस संग्रह की कविताएँ एक विशेष मनःस्थिति में लिखी गयी हैं। पर इन सबके बावजूद इन कविताओं में दैन्य या पलायन या निराशा या भय नहीं दिखायी

पड़ता। इन कविताओं में कुल मिलाकर मृत्यु की एक स्वीकृति मात्र है—ऐसी मृत्यु की जिसे कवि पुनर्जन्म का द्वार मानता है। वह कहता है—

घड़ी राख होने की आये
बुरा इसमें कुछ नहीं है
बुरा यह है
कि मन राख होने से घबराये
मैं खुश हूँ कि वह नहीं हो रहा है।[11]

भवानीप्रसाद मिश्र की कविता की सही जमीन यही है। उनकी कविता, आशा, उल्लास, मस्ती, आस्था, उत्साह और उदात्त जीवन-मूल्यों की कविता है। चारों ओर के अन्धकार के बीच उन्हें आदमी के भीतर प्रकाश दिखायी पड़ता है। बाहर की कीचड़ और बदबूदार सड़ाँध के बीच उन्हें आत्मा की आदिम सुगन्ध महसूस होती है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भवानीप्रसाद मिश्र की कविता में 'फूल', 'खुशबू' और 'गन्ध' जैसे शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है। 'खुशबू के शिलालेख' नामक अपनी प्रसिद्ध कविता में वे लिखते हैं—

एक सुगन्ध के बल पर जी रहा हूँ मैं
× × ×
आत्मा को
सिवा आदिम सुगन्धों के
कौन बचा सकता है
धूल और धुएँ में डूबने से
× × ×
और यह भी जाना है
कि जितने दिन जियूँगा
सुगन्धें केवल
पियूँगा नहीं
फैलाऊँगा
सुगन्धें लिखूँगा, सुगन्धें गाऊँगा।

भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं को पढ़ने के बाद जो कुछ छनकर बच रहता है वह एक खुशबू है और इस अर्थ में उनका सम्पूर्ण काव्य खुशबू का शिलालेख कहा जा सकता है।

और अन्त में, भवानीप्रसाद मिश्र की कविता पर विचार करते हुए उनकी कुछ सीमाएँ भी सामने आती हैं। भवानीप्रसाद मिश्र की सबसे बड़ी सीमा है कि वे जो कुछ भी कहना चाहते हैं कविता में ही कहना चाहते हैं। 'दूसरा सप्तक' और 'बुनी हुई रस्सी' के वक्तव्यों को छोड़कर उन्होंने गद्य में कुछ नहीं कहा है। सबकुछ कविता में ही कहने का परिणाम यह हुआ

है कि उनका काव्य एक कथनकाव्य—एक सपाट बयान जैसा लगता है। कुछ कविताएँ अनावश्यक लम्बी हो गयी हैं, क्योंकि कवि ने अपने केन्द्रीय भाव को तानना शुरू कर दिया है। कहीं-कहीं पर यह भी लगता है जैसे वह उपदेश दे रहा है। कहीं-कहीं उसका आत्मकथ्य भी भारी मालूम पड़ता है। ऐसे स्थलों पर कविता अपना प्रभाव खो देती है। कविता के लिए जो सांकेतिकता और जो खामोशी जरूरी होती है वह भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताओं में नहीं मिलती। उनकी कविता गहरे आन्तरिक द्वन्द्वों से जूझने का प्रमाण नहीं देती। यह उनकी कविता की सीमा मानी जा सकती है। लेकिन यह सीमा उनकी सभी कविताओं की सीमा नहीं है।

सन्दर्भ

1. बुनी हुई रस्सी, पृ. 12
2. अँधेरी कविताएँ, पृ. 74, 83
3. कवितान्तर : सं. जगदीश गुप्त, पृ. 40
4. दूसरा सप्तक, वक्तव्य, पृ. 4-5
5. दूसरा सप्तक, पृ. 3
6. गांधी पंचशती, पृ. 404
7. बुनी हुई रस्सी, पृ. 7 (अपनी ओर से)
8. गांधी पंचशती, पृ. 332
9. वही, पृ. 421, 436
10. दे., भवानी भाई : सं. प्रेमशंकर रघुवंशी, पृ. 13
11. अँधेरी कविताएँ. पृ. 140

कविता की भीतरी नदी

अपने काव्य-संग्रह 'भीतरी नदी की यात्रा' (1975 ई.) की भूमिका में गिरिजाकुमार माथुर (1919 ई.) लिखते हैं, "इन कविताओं में मैं आदमी के प्रति प्यार और ममत्व को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ। उसका एक खास कारण यह है कि पिछले दस-बारह वर्षों में नयी हिन्दी कविताओं में एक व्यापक निषेध, नफरत, वीभत्सता, ग़लाज़त, आक्रोश, आक्रामकता, हिंसा और यथार्थ तथा सपाटबयानी के नाम पर फूहड़ता, असभ्यता, देह के घृणित व्यापार और गाली-गलौज तक का वातावरण बढ़ता चला गया है।···इस तरह निषेध, वीभत्सता और व्यवस्था-विद्रोह का तेवर दिखानेवाली रचनाएँ अपने अन्तिम विश्लेषण में आदमी, प्रकृति और जीवन के प्रति एक आकण्ठ अरुचि और नफरत का भाव पैदा करती हैं।" गिरिजाकुमार माथुर के उपर्युक्त वक्तव्य से जाहिर है कि वे अपनी कविता को एक नयी जमीन देना चाहते हैं जो उन्हीं के शब्दों में, "ममता, मोह, मानवीय संवेदना, मर्मशीलता, आसक्ति, जीवन के भरपूर आस्वाद और जीने की आकांक्षा की है।"[1] भीतरी नदी का अर्थ, उनके अनुसार अन्तरंग अनुभूतियों का व्यक्तीकरण है। ये अनुभूतियाँ सौन्दर्य और प्रेम सम्बन्धी हैं जो जीवन के मधुर पक्ष से सम्बन्धित हैं। 'भीतरी नदी की यात्रा' संग्रह की कविताएँ कवि के इस वक्तव्य को प्रमाणित करती हैं। इस संग्रह की कविताओं में कवि अपने प्यार की दुनिया में फिर लौटता है—

फिर घुमड़े वही मेघ, फिर आया याद प्यार
फिर खिलने लगे पहिले-पहिले के हरसिंगार

× × ×

अब मैंने जाना
उम्र के हर चरण पर
कितने फरक नमूनों में
यह मन सतरंग हो जाता है

कैसे हर निकष झूठा पड़ता है
सिर्फ प्यार रह जाता है[2]

ऊपर की पंक्तियों में 'फिर', 'वही', 'पहिले पहिले के', 'अब' जैसे शब्दों पर गौर करना चाहिए। इस संग्रह की लगभग दर्जन-भर कविताओं में ये शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा लगता है जैसे कवि कुछ समय के लिए कहीं अन्यत्र भटक गया था और अब फिर अपनी पुरानी दुनिया में—अपनी चिरपरिचित दुनिया में लौट रहा है या लौट जाना चाहता है। कवि की यह दुनिया प्यार और सौन्दर्य की दुनिया है। देह और प्रकृति की दुनिया है। इस दुनिया में फूल हैं, गन्ध है, फुहार है, रंग है—

तुम मेरे रंगहीन जन्म के अकेलेपन में
एक बाहरी फूल की तरह लग गयी हो
मेरे शब्दों की खुशबू
तुम्हारी बाँहों की लिपटी गन्ध है
उनके चटकीले रंगों पर
तुम्हारी होंठों की छाप है[3]

कवि के इस दुनिया में लौटने के कुछ आवश्यक कारण हैं। वह दुनिया की वणिक संस्कृति से ऊब गया है। वह फूलों की गन्ध को सड़ाँध में बदलते हुए देख रहा है। चारों ओर द्वेष, कुटिलता, षड्यन्त्र, मित्रघात और सत्ता का दर्शन है। जली हुई लाशें हैं, नफरत की राजनीति है। मर्म, ममता की छाती में छुरा घोंपा जा रहा है। लिबर्टी के नाम पर लिबर्टी को जिबह किया जा रहा है। यन्त्र-सभ्यता ने आदमी की जिन्दगी को जहर बनाकर छोड़ दिया है।[4] इस चारों ओर के दमघोंटू माहौल में कवि खुद को सम्बोधित करता हुआ कहता है—

ओ ममता-भरी उत्सव-सी भावना
घृणा की इस कड़वाई वीभत्स रात में
मन-ही-मन बाँझ होती
प्यार की पछताती बूँद
अर्पित करोगी कहाँ
हर मन में गुर्राता हुआ
बैठा एक प्रेत है[5]

गिरिजाकुमार माथुर जिस 'प्यार की बूंद' को अर्पित करने के लिए बेचैन हैं वह प्यार की बूंद उनकी कविता में बराबर अर्पित होती रही है—'मंजीर' (1941 ई.) से लेकर 'भीतरी नदी की यात्रा' तक। प्रेम और सौन्दर्य ही उनकी कविता की सहज भूमि है। उनके आरम्भिक संग्रहों की कविताएँ प्रेम, मिलन, वियोग, आशा, निराशा, उल्लास और उदासी की कविताएँ हैं। 'नाश और निर्माण' (1946 ई.) संग्रह की भावभूमि और उसकी

गीतात्मक चेतना बच्चन के प्रेम-विरह के गीतों से मिलती-जुलती है। 'सपना था वह प्यार नहीं था', 'मैंने बहुत छला अपने को', 'जीवन भर मन में रोना है', 'नशा का तुम शाप या वरदान दे दो, आज मेरे पूजनों के गान ले लो', 'पूस की ठिठुरन भरी इस रात में, कितनी तुम्हारी याद आयी' जैसी अनेक पंक्तियाँ बच्चन के गीतों की याद दिलाती हैं। शब्दावली लगभग वही है—सूने आँगन, मीठे सपने, शरमीली निशि, गुलाबी ठंढक, सुनसान किनारे, थकी दुपहरी, मुस्कानों के बान, सूनी आधी रात, वंशी, मधु, संगीत आदि। 'फूल सा तन' और 'मोम सा मन' जैसे प्रयोग तो ज्यों के त्यों महादेवी वर्मा के गीत में भी हैं।

गिरिजाकुमार माथुर की सौन्दर्य-चेतना में यौन कल्पनाएँ बहुत हैं। उनकी कविता में देह की चेतना बड़ी तीव्र है। नारी-देह की विविध छवियाँ उनकी कविता में बार-बार अंकित हुई हैं। प्यासे अधर, चोली कसे अंग, नयन डोर, कुन्द कपोल, गोल गोरी कलाइयाँ, चन्दन बाँहें उनकी कविता में हर जगह मौजूद हैं। नारी-अंगों में बाँहें कवि को सबसे प्रिय हैं। चुम्बन, आलिंगन और मिलन के चित्र जगह-जगह हैं। गोरा रंग कवि का सबसे प्रिय रंग है—गोरे कपोल, गोरी बाँहें, गोरे दम्पति, गोरा पल्ला साड़ी का, गोरे पार्क, गोरी छत, गोरे चरण, गोरी हवा, गोरी सुबह-शाम आदि। नारी के सौन्दर्य-प्रसाधनों में मेहँदी और चूड़ियों का उल्लेख बार-बार हुआ है। चूड़ियाँ मिलन की याद दिलाती हैं—

आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्त्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में।[6]

गिरिजाकुमार माथुर की इस सौन्दर्य-चेतना में एक विशिष्ट आभिजात्य दिखायी पड़ता है। उनके रंग, रूप और श्रृंगार-चित्र सब इसे पुष्ट करते हैं —ड्रेसिंग टेबिल, बँगला, मोटर, कोच, रेडियो, ड्राइंग-रूम, रेशमी साड़ी, रेशमी पर्दे, क्रीम, सेण्ट, रंजित फौव्वारे, हरी मखमली लान, टहलते दम्पति, मृदुल पियानो, खुशबू भरी मोटरें आदि। कुल मिलाकर गिरिजाकुमार माथुर के प्रेम और सौन्दर्य की यही सच्ची दुनिया है।

नारी-देह के चित्रों की ही तरह गिरिजाकुमार माथुर की कविता में प्रकृति और वातावरण के चित्र बहुत मिलते हैं। ऋतुओं, महीनों, तिथियों, फ़लों, फूलों और वृक्षों के जितने नाम माथुर की कविता में मिलते हैं उतने शायद ही किसी कवि के। यह कम-से-कम इस बात का प्रमाण है

कि प्रकृति और परिवेश में कवि की गहरी दिलचस्पी है। वह तमाम महानगरीय कवियों की तरह अपने चारों ओर की दुनिया से कटकर एकदम अजनबी नहीं हो गया है। क्वार की दोपहरी, शरद की पूरनमासी, हेमन्त की रात, सर्दियों की धूप, चैत की साँझ, सिन्धु तट की रात, बनैले ताल, सुनसान जंगल, खेत, खलिहान, बालियाँ, फल, फलियाँ, केवड़ा, चमेली, नीम, इमली, पीपल, ढाक, कास, सेमर, जामुन, आँवला, नीबू, महुआ, मोर, हिरन आदि विविध रूपी प्रकृति संसार माथुर की कविता में रूपायित मिलेगा। वैसे तो उनकी कविता में प्रकृति का बहुरूपी वैभव मिलेगा फिर भी वसन्त और चाँदनी कवि को विशेष प्रिय है। इन दोनों का कवि की अभिजात रुचि से मेल बैठता है। इन दोनों के चित्र उसकी कविता में बार-बार आते हैं—

आज हैं केसर रंग रँगे
गृह, द्वार, नगर, वन,
जिनके विभिन्न रंगों में है रँग गयी
पूनो की चन्दन चाँदनी।[7]

× × ×

दूध के बुरादे-सी
मेह-दुही चाँदनी
बासमती चावल-सी
देह हुई चाँदनी

× × ×

फिर मिलेगी कब दही-सी चाँदनी
दूध, नैनू, घी, मही-सी चाँदनी[8]

गिरिजाकुमार माथुर के प्रकृति-चित्र प्रायः नारी-चित्रों के साथ घुले-मिले हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, इस कवि में देह की चेतना और यौन-कल्पना बहुत है। उसके प्राकृतिक चित्रों में विरह और मिलन की यादें समायी होती हैं। उसमें नारी का आकर्षण और प्रेम की प्यास बहुत है। प्रकृति में उसे नारी-देह का आकर्षण मिलता है। दोनों चित्र प्रायः एक-दूसरे में गुँथे होते हैं—

सीरी हवा दूर से आती
मन्द-मन्द शीतल साँसों-सी—
जैसे दिग्वधुओं को भुजपाशों में भर-भर
उनके पतले अधर
मेघ ने झुककर चूमे।[9]

× × ×

स्लीवलेस ब्लाउज पहने

छरहरी चाँदनी
पेड़ों की चकमदार जालियाँ तले
बेफिक्र मस्ती से
हल्के कदम रख चलती
मुँह में मन्द-मन्द इलायची चबाती
नशीले सेक्स-रचे नखरे से
जान-जानकर
अठखेलियाँ करती अदा से—[10]

× × ×

नहाकर वनस्पति हुई ऋतुमती-सी
नितम्बिनी धरा ज्यों कुँवरि रसवती-सी
नवोढ़ा नदी ने नवल अंग खोले
सजी दीपतन की मिलन आरती-सी

× × ×

कामिनी-सी अब लिपटकर सो गयी है
रात यह हेमन्त की
दीप-तन बन ऊष्म करने
सेज अपने कन्त की

× × ×

उड़ती भीनी गन्ध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुन्तल कामिनी[11]

गिरिजाकुमार माथुर की कविता में वातावरण के चित्र भी बहुत मिलते हैं। ऐसे चित्र प्रायः कवि द्वारा देखे गये दृश्यों और उसकी यात्राओं के हैं। इन चित्रों में कवि ने एक पूरे वातावरण को सजीव करने की कोशिश की है और निस्सन्देह इसमें उसे सफलता मिली है। इस प्रकार के चित्रों में वास्तविकता अधिक है क्योंकि यह कवि का प्रत्यक्ष देखा और भोगा हुआ जीवन है—

लाल पठार दूर तक फैली है कँकरीली
बस्ती का अपना सूनापन
दोपहरी में रोज एक ही रेल
जहाँ से आकर जाकर
भंग किया करती अनजाने।
वहीं हरेक सनीचर के दिन
हाट लगा करती है
भूतकाल में भटकी हुई आत्मा जैसी।
दूर-दूर के गाँवों के नर-नारी आते

अपनी बैलगाड़ियाँ लेकर
और जिन्हें सौदा हठराते ही में
सदा साँझ हो जाया करती ।[12]

गिरिजाकुमार माथुर में प्रकृति का इतना आकर्षण है कि वे आज के यन्त्र युग का खुलकर विरोध करते हैं । यान्त्रिक सभ्यता का यह विरोध उनकी कविता में शुरू से ही मिलता है और आज भी वे अपने उस निष्कर्ष पर दृढ़ हैं । 'नाश और निर्माण' संग्रह की एक कविता में वे लिखते हैं—

और दूसरी ओर राक्षसी भीम चिमनियाँ
अस्थि-धूम निर्वन्ध उगलतीं ।
इस स्पंजी दानव ने
जीवन का अमृत सोख लिया है ।

'तारसप्तक' की 'गीतिका' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

यन्त्र दैत्य चिघाड़ रहे हैं
नभ की छाती फाड़ रहे हैं
अणु का वैश्वानर जलता है
धुआँ नागफन बन उठता है
नभ में तनी शक्ति की भुज है
और दूसरी ओर मनुज है ।

'जो बँध नहीं सका' (1968) संग्रह की 'इतिहास की पीड़ा' शीर्षक से लिखी गयी लगभग दो दर्जन कविताओं में कवि ने इतिहास की नृशंसता, निरंकुशता, उसके आदिम न्याय और उसके विकृत सत्य का बयान किया है । उसने इतिहास को अन्धा, बहरा, गूँगा, लँगड़ा कहा है । कवि द्वारा इतिहास का यह विरोध अतीत का विरोध नहीं है बल्कि मूल्यहीनता का विरोध है । इसीलिए कवि अतीत और वर्तमान दोनों की मूल्यहीनता, क्रूरता और अमानवीयता का विरोध करता है । 'भीतरी नदी की यात्रा' संग्रह के 'बीसवाँ अन्धकार' शीर्षक कविता में कवि ने बीसवीं शताब्दी की क्रूर, यान्त्रिक, अमानवीय सभ्यता को बेनकाब किया है—

क्योंकि तुमने मारा है
वेफिक्र किलक के बीच
मेरे प्यार को
यन्त्रणा का सीरप बनाया है
मेरे आँसू को
रोका है आने से
ज्यादा समझदार
मेरे इक्कीसवें भविष्य को ।

गिरिजाकुमार माथुर मनुष्य को दबानेवाली शक्तियों का विरोध करते हैं ।

वे उन कवियों का भी विरोध करते हैं जो मानवीय विकृतियों का चित्रण-मात्र करके रह जाते हैं। 'भीतरी नदी की यात्रा' की भूमिका में वे लिखते हैं, "मैं सारे मानव-विरोधी षड्यन्त्र और निषेधात्मक अन्धकार के वातावरण के बीच प्रकृति और मनुष्य के जीवन की स्वाभाविक लय के साथ फिर से रचना-धर्मिता को जोड़ना चाहता हूँ।" गिरिजाकुमार माथुर मानवता के बुनियादी मूल्यों में विश्वास रखते हैं। इसीलिए वे मंगल, मूल्य तथा नैतिकता की बात करते हैं और इसीलिए वे विद्रोह की नहीं सन्तुलन और सामंजस्य की बात करते हैं। 'धूप के धान' (1955 ई.) संग्रह की भूमिका में वे लिखते हैं, "श्रेष्ठ साहित्य पक्षधर नहीं होता, वह विभिन्न और प्रत्यक्षतः विरोधी दिखानेवाले पक्ष या प्रवृत्तियों का समन्वय करता चलता है, उनके आधारभूत मूल्यों और तत्त्वों को समेटकर उनमें सन्तुलन स्थापित करता है। साहित्य का यही नैतिक पक्ष है जो उसे महान दर्शन की श्रेणी में ला बिठाता है।···साहित्य राजनीति की संकीर्ण सीमाओं से परे उसके बुनियादी सिद्धान्तों तक जाता है और उसके मंगल तत्त्वों पर ही अपनी दृष्टि रखता है।" कहना न होगा कि गिरिजाकुमार माथुर अपनी कविता में इन मंगल तत्त्वों पर दृष्टि रखते हैं। उनमें आशा है और मानव भविष्य पर आस्था है—

> जो बीज धरा ने दिया न वह मुरझा सकता
> माटी का तेज नहीं माटी को खा सकता
> इंसान करे चाहे जितनी कोशिश लेकिन
> जीवन दीपक की लौ वह नहीं बुझा सकता[13]
>
> × × ×
>
> किन्तु नहीं
> मिट सका कभी न भविष्य मनुज का
> जग का वैभव रचनेवाले ज्योति मनुज का
> अणु का नाग नाथनेवाले महामनुज का[14]

गिरिजाकुमार माथुर की यह आशा और आस्थावादी दृष्टि उनकी कविता को एक नया रूप दे सकती थी पर वह ऐसा नहीं कर पाती। इसके कारण हैं। माथुर का काव्य-संसार कुल मिलाकर प्रेम और सौन्दर्य का ही संसार रह जाता है। उनकी काव्य-चिन्ता व्यक्ति-चिन्ता से आगे नहीं बढ़ पाती। इसीलिए जहाँ कहीं उनकी समाज-चिन्ता व्यक्त होती है, वह कविता में जोड़ी हुई लगती है। कविता में रच-पचकर उसकी बनावट होकर प्रकट नहीं होती। कहीं-कहीं तो माथुर प्रेम की अकेली दुनिया में पलायन करते जान पड़ते हैं—

> मेरे सपने बहुत नहीं हैं—
> छोटी-सी दुनिया अपनी दुनिया हो

दो उजले-उजले से कमरे
जगने को—सोने को
मोती सी हों—चुनी किताबें
शीतल रस से भरे सुनहले प्यालों जैसी
ठण्ढी खिड़की के बाहर धीरे हँसती हो
तितली सी रंगीन बगीची
छोटा लॉन स्वीट-पी जैसा
मौलसिरी की बिखरी छितरी छाँहों डूबा—
हम हों, वे हों
काव्य और संगीत सिन्धु में डूबे डूबे
प्यार भरे पंछी से बैठे
नयनों से रस नयन मिलाये[15]

यह कविता बहुत पहले की लिखी हुई है पर गिरिजाकुमार माथुर के काव्य की असली जमीन आज भी इसी के आसपास है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माथुर का ऐन्द्रियबोध वहुत तीव्र है। उनकी कविता का शिल्पपक्ष भी बहुत सुगठित है। बिम्बों, चित्रों की सजावट उनमें काफी आकर्षक है। भाषा में नये-नये शब्द-प्रयोग भी उन्होंने किये हैं। पर उनकी कविता में कोई गहरी समाज चिन्ता ढूँढ़ पाना कठिन है। गिरिजाकुमार माथुर की कविता प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण तथा शिल्प की दृष्टि से अवश्य ही अपने समकालीनों में उल्लेखनीय समझी जायेगी। और हाँ, सचमुच आज की कविता में जो निषेध, नफरत, वीभत्सता, गलाज़त, आक्रोश, आक्रामकता, हिंसा, फूहड़ता और गाली-गलौज का वातावरण दिखायी पड़ता है वह गिरिजाकुमार माथुर की कविता में नहीं दिखायी पड़ेगा। लेकिन 'साक्षी रहे वर्तमान' (1979 ई.) संग्रह की कविताएँ कवि की अपनी सहज जमीन की कविताओं से अलग हैं। इस संग्रह की शब्दावली प्रकृति और प्रेम की शब्दावली नहीं है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस संग्रह की कविताएँ 'वर्तमान' परिदृश्य को चित्रित करनेवाली कविताएँ हैं—

तेल पिया कोड़ा ले हाथ में
ठोकूँ एक साथ सारे दृश्य को
गाड़ी को, घोड़े को, साईस को, सवार को
खचड़ा वागडोर को
खिचड़ी बाजार को
लोगों की ऐसी तैसी करते
नेता के मोटे चाम को
फीते को, फाइल को, नमकहराम को

लाभ-सुभ लूटते गोदाम को
जोंक से शहर को
खून चुसवाते गाँव खेत को
बिना बत्ती के चली जाती रेल को—[16]

ऊपर की पंक्तियाँ श्रीकान्त वर्मा की कविता-पंक्तियों जैसी मालूम पड़ती हैं। इनमें भी उसी प्रकार दृश्य भागते हैं, उसी प्रकार एक पंक्ति दूसरी पंक्ति में घुसती है। गिरिजाकुमार माथुर अपने समय का यथातथ्य चित्रण करते हैं। 'पंचायती तिकड़म', 'धक्काशाही राजनीति', 'लठैत बेईमानी', 'कोढ़ खाई सामाजिकता' पर वे आक्रोश प्रकट करते हैं। इस संग्रह की कविताओं में दलाल, स्मगलर, छुरेबाज, सुविधाप्रिय सफेदपोश, व्यभिचारी रईस, रिश्वतखोर, आदमीनुमा पशु भी हैं और उनके बीच औरत की अकाल चीत्कार भी। यही आज का असली परिदृश्य है जिसे कवि ने 'अँधेरी दुनिया' शीर्षक लम्बी कविता में चित्रित किया है। इसमें नेता भी हैं, अफसर भी, पूंजीपति भी और बुद्धिजीवी भी। इन सबों ने मिलकर पूरे देश को जाम कर दिया है—

बहुत सँकरा क्रासिंग है
रुका है ठसाठस
एक पूरा देश
हवा में लगातार
सिर धुनती चुनौती भरी आवाज
—कोई है ?
—कोई है ?[17]

ऊपर की पंक्तियों में कवि की बेचैनी स्पष्ट है। लेकिन इस प्रकार की बेचैनी के उदाहरण इस संग्रह में बहुत कम मिलेंगे। इस संग्रह की लगभग सभी कविताएँ वर्णनात्मक कविताएँ हैं। जैसे कोई ट्रेन से यात्रा करता हुआ आदमी अगल-बगल के भागते दृश्यों को देखता है उसी प्रकार कवि अपने समय की स्थितियों का निरीक्षण करता है—निर्लिप्त और तटस्थ भाव से। चीजों में उसकी कोई गहरी दिलचस्पी या उनके प्रति लगाव नहीं प्रकट होता। कवि के भीतर कोई मन्थन या गहरी वेदना भी नहीं झाँकती। वह अतिसरलीकृत ढंग से सीधे-सीधे कहता चलता है—

तुमने जिसे समझा है
बेजुबान कठपुतली
वह हाड़मांस की सबसे बड़ी ताकत है
आज नहीं तो कल
जल्दी ही समझोगे
जनता को आखिरी बात कहने की आदत है

× × ×

सिर्फ अपने ही लिए जब जीने लगते हैं आदमी
तब उनकी हर चीज बिकाऊ हो जाती है
जब जोखिम उठाने की आदत मिट जाती है
हर क़ौम मर जाती है--[18]

'साक्षी रहे वर्तमान' संग्रह की अधिकांश कविताएँ इसी प्रकार की हैं। हाँ, संग्रह की अन्तिम कुछ कविताएँ अवश्य ही ज्यादा समर्थ और प्रभावित करनेवाली हैं। 'लौटा हुआ जल', 'मन मेरा गुलाब', 'आने दो आँच', 'अविलीन सुनसान', 'सम्मोहन के अकेले आभास' शीर्षक कविताएँ इसी प्रकार की हैं। इन कविताओं की भावभूमि कवि की पुरानी भावभूमि है। राग की, आकर्षण की, कसक की, प्रेम की सहज भाव-भूमि। इनमें उसका 'स्व'भाव व्यक्त हुआ है। इनमें वह अपने समय की चालू कविता का अनुकरण नहीं करता। इसीलिए ये कविताएँ अपने समय के मुहावरे से अलग होते हुए भी अपना विशिष्ट स्वाद देती हैं—

लौट गया पानी समुद्र में—
लौटा लिये तरुओं ने
फूल हर सुवास के
उतरते सितम्बर के अनमने चाँद पर
घूम रहे दिशाहीन
बादल कपास के--

× × ×

देखा तुमको मैंने कितने जन्मों के बाद
चम्पे की बदली-सी धूप छाँह आसपास
घूम सी गयी दुनिया यह भी न रहा याद
बह गया है वक्त लिये सारे मेरे पलाश[19]

सन्दर्भ

1. भीतरी नदी की यात्रा, भूमिका
2. वही, पृ. 1, 6
3. वही, पृ. 8
4. वही, पृ. 50 से 67
5. वही, पृ. 53
6. तारसप्तक, पृ. 173
7. नाश और निर्माण, पृ. 110
8. जो बँध नहीं सका, पृ. 57-88
9. नाश और निर्माण, पृ. 73

10. जो बँध नहीं सका, पृ. 55
11. धूप के धान, पृ. 57, 70, 89
12. नाश और निर्माण, पृ. 69
13. शिलापंख चमकीले, पृ. 11
14. धूप के धान, पृ. 83
15. नाश और निर्माण, पृ. 51
16. साक्षी रहे वर्तमान, पृ. 17
17. वही, पृ. 22
18. वही, पृ. 51, 62
19. वही, पृ. 86, 90

कविता का वैष्णव व्यक्तित्व

आओ ऋतुपति चन्द्र-सूर्य तुम
अपनी धूप चाँदनी के सौ-सौ चीवर फैलाते।
मनुज घाव पर चैत शरद की चाँदनियों की
रेशम पलकें हवा कर सकें।
गगन आम पर स्वर्ग कहीं वैठा बैठा
तारों की वंशी मुझे सुनाये।
धरती नीले तारों का परिवार बन सके,
इसीलिए खेतों में सन्ध्या केसर बरसे।
ज्वारों के सिंहासन पर तुम बैठे हुए महासिन्धुओ !
वहो ध्रुवों तक, चलो तटों तक,
अपने शत उपहारों से मानव को लादो।
नये मनुज के हाथों में श्रम की रेखाएँ
आल्प्स रचेगा नये रूप में,
राइन, वोल्गा, गंगा के वह इस धरती पर आज नये
जल-छन्द लिखेगा।
उसके श्रम के नवल क्षितिज की ओर दौड़ते सूरज घोड़े
आलोकों की उल्काएँ ले।
समयदेवता ! आज विदा लो,
किन्तु तुम्हारे रेशम के इस चमक वस्त्र में
मिट्टी का विश्वास बाँधकर भेज रहा हूँ।
मेरी धरती पुष्पवती है
और मनुज की पेशानी के चरागाह पर दौड़ रही हैं
तूफानों की नयी हवाएँ।

उपर्युक्त काव्य-पंक्तियाँ नरेश मेहता (1924 ई.) की लम्बी कविता 'समय-देवता' की अन्तिम पंक्तियाँ हैं।[1] इन पंक्तियों में कवि किसी वैदिक ऋषि

की भाँति अपने देवताओं (चन्द्र और सूर्य) का आह्वान करता है और उनकी कृपापूर्ण छाया में धरती और मनुष्य को सुखी देखना चाहता है। ये पंक्तियाँ कवि की मंगलकामना व्यक्त करती हैं। यह मंगलकामना किसी खास देश और किसी खास वर्ग के लिए नहीं है बल्कि सम्पूर्ण धरती और मनुष्य मात्र के लिए है। कवि समयदेवता को सम्बोधित करते हुए उसके रेशम के चमक वस्त्र (किरण) में मिट्टी का विश्वास (धरती के प्रति आस्था) बाँधकर भेज रहा है। वह अपनी धरती को पुष्पवती मानता है और महसूस कर रहा है आदमी की किस्मत को तूफानों में आन्दोलित होते हुए। उपर्युक्त पंक्तियों में अपनी धरती और उस पर रहनेवाले मनुष्य के वर्तमान तथा भविष्य की चिन्ता कवि की मुख्य चिन्ता है।

उपर्युक्त पंक्तियों की शब्दावली पर गौर करें तो स्पष्ट होगा कि कवि धरती और मनुष्य की महिमा को स्वीकार करनेवाला कवि है। प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रकृति के प्रति कवि के लगाव को खास तौर से व्यक्त करती हैं। इन पंक्तियों में कृषि जीवन से सम्बद्ध शब्दावली का प्रयोग कृषि सभ्यता के साथ कवि का लगाव व्यक्त करता है। कवि ने अपनी धरती को 'पुष्पवती' कहा है। वह समयदेवता को 'मिट्टी का विश्वास' भेजता है। मनुज घाव पर चैत-शरद की चाँदनी की हवा करना चाहता है। गगन आम पर तारों की वंशी सुनना चाहता है। धरती को नीले तारों का परिवार बनाना चाहता है। खेतों में सन्ध्या केसर बरसते देखना चाहता है। नये मनुज के हाथों में श्रम की नयी रेखाएँ रचने तथा धरती पर नये छन्द लिखे जाने की कामना करता है। तात्पर्य यह कि इन पंक्तियों में नरेश मेहता के काव्य की कई प्रमुख विशेषताएँ—धरती और प्रकृति के साथ लगाव, कृषि-जीवन के प्रति आकर्षण, मनुष्य की महिमा की स्वीकृति, मानववादी विश्वदृष्टि, आशा, आस्था और शिवदृष्टि—व्यक्त हुई हैं।

प्रकृति के प्रति नरेश मेहता की कविता में बहुत आकर्षण मिलता है। उनकी कविताओं में प्रकृति अपने विविध रूपों में आती है। नदी, झील, आकाश, पहाड़, घाटी, जंगल, बादल, सूरज, अमराई, पूनम, चाँद, चिड़िया, फूल, वसन्त, ग्रीष्म, सावन, सन्ध्या, प्रातः चाँदनी आदि। पेड़ों और फूलों के नामों की भरमार है। नरेशजी की कविता में असंख्य प्रकृति-चित्रों को देखकर लगता है जैसे कवि-मन पर प्रकृति का जादू हो। जहाँ भी प्राकृतिक दृश्य आते हैं उनका वर्णन कवि बड़े उल्लास के साथ करता है। नरेश मेहता की कविता में प्रातः, उषा, धूप और किरन का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। इनसे सम्बन्धित बिम्ब उनकी कविता में बहुत आते हैं। उनकी कविताओं में इस तरह के बिम्ब उस कवि-मन को व्यक्त करते हैं जो खुलापन, ताजगी, सुख और श्री की आकांक्षा करता है। जो आशा और आस्था को महत्त्व देता है। उषस् तिमिर का विजेता है—

तिमिर दैत्य के नील दुर्ग पर
फहराया तुमने केतन
परिपन्थी पर हमें विजय दो
स्वस्थ बने मानव जीवन
इन्द्र हमारे रक्षक होंगे खेतों औ' खलिहान
सुख, यश, श्री बरसाओ आओ
व्योम कन्यके ! सरल नवल
अरुण अश्व ले जायँ तुम्हें
उस सोमदेव के राजमहल
नयन रागमय, अधर गीतमय, बने सोम का कर फिर पान।

× ×

तम के जो बन्दी थे
सूरज ने मुक्त किये
किरनों से गगन पोंछ
धरती को रंग दिये[2]

× ×

कपिला दूध-सी
यह धूप—
धूप का नाम ही कैसा उत्सव है—
जो पशुओं की पीठों को चमक
और हमारे मुखों की रात्रि पोंछ कर
दीपित कर जाता है।[3]

ऊपर की पंक्तियों में उषा का, सूरज का और धूप का वर्णन कवि ने किया है। नरेश मेहता की कविता में साँझ के चित्र भी अधिक मिलते हैं। साँझ उषा का विरोधी है। इन दोनों के चित्रण द्वारा कवि ने आलोक और अन्धकार का परस्पर विरोध व्यक्त किया है। नरेश मेहता का कवि बार-बार आलोक की आकांक्षा व्यक्त करता है। जिस 'धूप' शब्द का प्रयोग वह अपनी कविता में बार-बार करता है वह कहीं-कहीं ऊर्ध्व का प्रतीक हो जाती है—

धूप
एक सम्भावित सिम्फनी है
आकाश की
पृथ्वी से आने वालों के लिए।
ओ अनन्त-अनन्त वनस्पतियो !
फूलों और यवांकुरों से कह दो
उन सोते हुए अज्ञात जलों से कह दो

ओ गर्भित ऐकान्तिक रत्नो !
जो भी इस पृथ्वी से सम्बन्धित हैं
गायन हैं—
सबको अपनी-अपनी सम्भावनाएँ ही
अर्पित करनी हैं
ऊर्ध्व ओर
धूप ओर।[4]

यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि नरेश मेहता के काव्य में नगर और महानगर के जीवन चित्र नहीं के बराबर हैं। नरेशजी ने वन्य प्रकृति के ही चित्र अधिक दिये हैं। उन्होंने महानगरों की उस अतियान्त्रिकता का विरोध किया है जिसके शोर-शराबे में मनुष्य की आत्मा का संगीत गायब हो गया है। नरेश मेहता का कवि आधुनिक जीवन की यान्त्रिकता और विनाशक वैज्ञानिक अस्त्रों की भयानकता से ऊबा हुआ है इसलिए वह प्रकृति के क्रोड़ में शान्ति चाहता है—

एक स्तवक की तरह
मेरे हाथों में
मेरे पास टटके फूलों वाला
धूप भरा
पूरा एक फालगुनी दिन है।
× ×
ओ अप्सरा की आँख की तरह के
धूप भरे फालगुनी दिन !
आज मेरे पास कोई काम नहीं है
मैं अभी इस झील में नहाऊँगा
उसके बाद
उसके बाद ये झरबेरियाँ हैं
चेरियों के गुच्छे हैं
हिमानी शिखरों की श्रेणियाँ हैं
केवल इन्हें देखता रहूँगा।
किसी एकान्त वनलता के
एक नील फूल को
शंख की भाँति बजाते हुए
सन्ध्या कर दूंगा।
इस सोनाली झील में
एक नाव मेरी प्रतीक्षा में है
मछलियों की गन्ध वाला जल है।
कैसा छुट्टियों का-सा मन लिये आया हूँ[5]

यह भी विशेष रूप से गौर करने की बात है कि नरेश मेहता के काव्य में ग्राम्यज़ीवन और कृषिजीवन से सम्बद्ध शब्दचित्र बहुत मिलेंगे—

उदयाचल से किरन-धेनुएँ
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला।

× ×

बरस रहा आलोक दूध है
खेतों खलिहानों में
जीवन की नव किरन फूटती
मकई के धानों में

× ×

अमराई में दमयन्ती-सी
पीली पूनम काँप रही है
अभी गयी-सी गाड़ी के
बैलों की घण्टी बोल रही है[6]

× ×

गगन गड़रिया अपने कुहरे फेल्ट हेट में जिसे खोंस कर
बैठा हुआ आल्प्स पर्वत पर अपनी भेड़ें चरा रहा है।

× ×

गेहूँ के सोने जल पर 'केरल सी' की हवा तैरती।
घोड़े की छाती तक ऊँची स्वर्ण बालियाँ
श्वेत सूर्य से बात कर रहीं।
मीलों लम्बे चरागाह में ऊन लपेटे भेड़ों का दल चला आ रहा।[7]

ऊपर की पंक्तियों में कवि की शब्दावली और उसका बिम्बविधान द्रष्टव्य है। कवि ने गायों को हाँकते ग्वाला, भेड़ों को चराते गड़रिया, बैलों की घण्टी, खेत, खलिहान, अमराई, चरागाह, बालियों आदि का उल्लेख किया है। उसकी कविताओं में अन्यत्र भी खेत, फसल, चावल, धान, गेहूँ, बीज आदि का जिक्र बार-बार आता है। कवि ने बड़े आदर के साथ धरती माता की महिमा को स्वीकार किया है। उसे शस्यश्यामला, विश्वम्भरा, रूपमयी, रत्नमयी, पुष्पवती आदि विशेषणों से सुशोभित किया है। इससे कुल मिला-कर धरती और कृषि-सभ्यता के साथ कवि का लगाव व्यक्त होता है। नरेश मेहता की कविता में वैदिक शब्दावली का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। सोम, उषस्, इन्द्र, पूषा, सविता, वरुणदेव, भूमा, सीता, सामगान, समिधा आदि अनेक शब्द इसी प्रकार के हैं। इस प्रकार के कई पूरे चित्र भी मिलते हैं। वैदिक सभ्यता कृषि और यज्ञों की सभ्यता थी। वैदिक दर्शन धरती और प्रकृति को महत्त्व देता है। नरेशजी का काव्य भी प्रकृति और धरती की महिमा का बयान करता है। आधुनिक यान्त्रिक जीवन से ऊबा हुआ कवि

कृषि-सभ्यता की ओर, प्रकृति की ओर लौटना चाहता है। कहीं-कहीं तो उसमें आदिम जीवन के प्रति भी ललक मिलती है। कवि को प्रकृति इसलिए आकर्षित करती है कि वह शान्ति देती है। यह शान्ति आधुनिक मानस को न विनाशक वैज्ञानिक यन्त्र दे सकती है और न उन यन्त्रों को नियन्त्रित करने वाली मानव-विरोधी राजनीति—

विश्वशान्ति का आह्वान इन राजनीति के भवनों में तो
सदा असम्भव
वह जनरव से दूर हँस रही दूब बिछाये धरती माता,
विश्वम्भरा रूपमयी वह
सरित सोम के कलश भरे बैठी पुत्रों की आस लगाये।[8]

यह एक शान्तिकामी मन का प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन है। यह पलायन नहीं, अपनी ही जड़ों की खोज है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि नरेश मेहता एक दार्शनिक-सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। इसीलिए उनमें मिथकों के प्रति बहुत आकर्षण है। उनका प्रकृति-प्रेम कहीं-न-कहीं उन्हें एक विराट के साथ जोड़ता है। यन्त्रों में यह अनुभूति जगा सकने की क्षमता नहीं होती। यन्त्र संवेदना को मारते हैं। इस सम्बन्ध में नरेश मेहता लिखते हैं, "हमारे व्यक्तित्वों की नैसर्गिक स्फटिकता वस्तुप्रधानता के इतने नीचे दब गयी है कि हमारे व्यक्तित्व के पादप में संवेदना का एक पीत पत्र भी शायद नहीं रह गया है। इस आन्तरिक संवेदना के अभाव में काव्य का यह अश्वत्थ अपनी महान प्राचीन परम्परा के बाद भी तेजी से जीवन्तताहीन होता जा रहा है।"[9]

सुनहला रंग नरेश मेहता का सबसे प्रिय रंग है। इसके बाद श्वेत रंग। 'सोने की मेघ चील', 'स्वर्ण किरण', 'पीली वसुधा', 'स्वर्ण धूप', 'गोरी रेत', 'आलोक हंस', धूप चाँदनी', 'सन्ध्या केसर', 'सोनपर्वी दिन', 'किरण-सी मुस्कान', 'कंचन-सी बाली', 'मोती के धान', 'चम्पक बाँहें', 'स्वर्ण कमल', 'मलय के चन्दन कानन', 'केसर-सा पदचिह्न', 'कंचन रथ', 'धूप की पीली तितली' जैसे प्रयोग कवि की इस रंग-संवेदना के प्रमाण हैं। सुनहला और श्वेत रंग आशा, उत्साह, शान्ति, सुख और श्री के रंग हैं। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि नरेश मेहता की कविता में पूजा की शब्दावली भी काफी मिलती है। कुंकुम, कीर्तन, धूप, मंत्र, तोरण, वन्दनवार, केसर, दूब, अक्षत, अभिषेक करना, अर्घ्य देना आदि प्रयोग इसी प्रकार के हैं। कहना न होगा कि यह नरेश मेहता का उदात्त और विशिष्ट सौन्दर्यबोध है। वे काव्य को 'मानवीय मन की ऊर्ध्वचेता आकांक्षा' मानते हैं जबकि गद्य को 'मानवीय जीवन की समतलोन्मुखी घटनात्मकता की अभिव्यक्ति।' उन्हीं के शब्दों में, "जितनी बड़ी काव्यात्मक संवेदना होगी उतनी ही बड़ी उदात्तता भी होगी। सच तो यह है कि गद्य यथार्थ को प्रस्तुत-भर करता है जबकि काव्य उसे

रचता है। काव्य के इस रचने के कारण ही यथार्थ उदात्त हो जाता है।"[10] कहना न होगा कि यह उदात्तता नरेश मेहता की भाषा में स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उनकी भाषा आभिजात्यपूर्ण है। वह प्रायः असहज भी हो जाती है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "उन्नत मनःस्थिति को अनुन्नत भाषा अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यह ठीक है कि भाषा का एक सामान्य रूप होता है तो एक विशिष्ट रूप भी होता है। जिस व्यक्ति या जिस जाति में जितनी ही विशिष्टता होगी उसकी भाषा उतनी ही संस्कारी या विशिष्ट होगी।"[11] कहना न होगा कि नरेश मेहता की भाषा एक संस्कारी और विशिष्ट भाषा है।

नरेश मेहता का काव्य मनुष्य की बुनियादी गरिमा को स्वीकार करता है। उनकी कविता मनुष्य के गौरव और सृष्टि में उसके सर्वोपरि होने का बखान करती है—

कौन रोक सकता है मानव को चलने से
जिसके संग-संग आदिकाल से इन्द्र चल रहा।
मनुज चल सके इसीलिए तो अन्धकार में सूर्य चल रहा।
जहाँ गया मनुपुत्र नदी ने जल पहुँचाया।
रत्नभरा धरा ने मानव को शत-शत हीरों से लादा।
मनुज चला तो सृष्टि चली, अन्यथा पूर्व थी मात्र प्रकृति।

× × ×

मानव जिस ओर गया
नगर बने, तीर्थ बने
तुमसे है कौन बड़ा ?
गगन-सिन्धु मित्र बने,
भूमा का भोगो सुख, नदियों का सोम पियो
त्यागो सब जीर्ण वसन, नूतन के संग-संग चलते चलो।[12]

यही मनुष्य जो सृष्टि और प्रकृति का सर्वोत्तम प्राणी है, युद्धों की ज्वाला में जल रहा है और विनाशक वैज्ञानिक आविष्कारों के कब्र में मरा पड़ा है—

हिरोशिमा में मनुज मर गया।
वही मनुज, जिसके सिर पर यह गगन मुकुट है,
अन्धकार सूरज मशाल ले किरनों का केसर देने को
साथ चल रहा,
और जिसे, वह दिन की चिड़िया, गगन आम पर दिन-भर बैठी
धूप सुनाती,
वही सृष्टि-श्री मनुज आज विज्ञान कब्र में मरा पड़ा है।[13]

नरेश मेहता ने अपने काव्य में युद्धों का विरोध किया है। युद्ध इस शताब्दी के मानव की एक मुख्य समस्या है। इस समस्या को सम्भवतः हर

युग के मनुष्य ने भोगा है। इस समस्या को नरेशजी ने अपनी दो महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध कृतियों—'संशय की एक रात' (1962 ई.) और 'महाप्रस्थान' (1975)—में उठाया है। 'संशय की एक रात' में राम कहते हैं—

मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु !
मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है
उसको ही
हाँ, उसको ही जगाना चाहता रहा हूँ बन्धु !

× ×

यदि सारे शुभाशुभ
युद्धों से ही प्रतिपादित होने हैं
तब वे सत्य तो नहीं
अन्तिम भी नहीं।[14]

राज्य क्योंकि युद्ध और आतंक पर चलता है इसीलिए नरेश मेहता अपने काव्य में राज्य का भी विरोध करते हैं। वे राज्य और राज्यव्यवस्था को सारे मानवीय दुखों का कारण मानते हैं। उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन राज्य का चारण होने में नहीं है। काव्य राजनीति के समानान्तर मूल्यों का वाहक है। काव्य का दायित्व है मानव-मुक्ति के संघर्ष में अपना योग देना। अपने 'महाप्रस्थान' नामक प्रबन्ध-काव्य में नरेश मेहता ने युधिष्ठिर को इसी मानव-मुक्ति के प्रतीक-पुरुष के रूप में चित्रित किया है। 'महाप्रस्थान' के युधिष्ठिर कहते हैं—

राज्य-व्यवस्था की नींव में
कराहते मनुष्य का होना
एक अनिवार्यता है अर्जुन !
कोई आश्चर्य नहीं
यदि इसी प्रकार
लूट, खसोट, युद्ध षड्यन्त्र होते रहे
तो एक दिन
यह राज्यव्यवस्था
सम्पूर्ण मानवता के विरुद्ध
सबसे बड़ा
संघबद्ध षड्यन्त्र सिद्ध हो।
राज्य के
अकूत शक्तिसम्पन्न होने का अर्थ ही है
व्यक्ति का स्वत्वहीन होना।
राज्य की गरिमा को
व्यक्ति की गरिमा का पर्याय होने दो।

किसी भी व्यवस्था का
व्यक्ति से बड़े हो जाने का अर्थ होगा
अमानवीय तन्त्र ।

× ×

प्रत्येक व्यवस्था के पास
अपने बघनख होते हैं अर्जुन !
सुदूर भविष्य में
क्या यह सम्भव नहीं है कि
राज्यव्यवस्था
समाज से स्वतन्त्रचेता व्यक्तियों को ही
या तो समाप्त कर दे
या उन्हें इतना विवश, पंगु बना दे कि
उनका अग्नि-व्यक्तित्व
राज्य-व्यवस्था की निरंकुशता को
कभी चुनौती ही न दे पाये ।
अकेला दुर्योधन ही
दुर्विनीत नहीं था अर्जुन !
व्यवस्था का मुकुट धारण करते ही
किसी भी व्यक्ति का
मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है ।[15]

ऊपर नरेश मेहता के काव्य से जो लम्बा उद्धरण प्रस्तुत किया गया है वह उनके व्यक्ति तथा राज्य सम्बन्धी विचारों को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है। नरेश मेहता व्यक्ति को—उसके विवेक को—महत्त्व देनेवाले विचारक हैं। वे भीड़ के कायल नहीं क्योंकि उनके अनुसार ऊर्ध्वता पर पहुँचकर सारी सामूहिकता वैयक्तिकता में परिणत हो जाती है। वे व्यक्ति को दबानेवाली सत्ताओं का विरोध करते हैं चाहे वह राज्य हो या कोई संस्था। उनके काव्य में 'एकाकी पाखी' या 'डैने टूटा,' 'पंख फड़फड़ाता' पाखी कई बार आता है। यह अकेले व्यक्ति का प्रतीक होकर आता है। 'महाप्रस्थान' के युधिष्ठिर कहते हैं—

किसी भी साम्राज्य से बड़ा है
एक बन्धु
एक अनाम मनुष्य ! !
मुझे मनुष्य में विराजे देवता में
सदा विश्वास रहा है
इस देवता के जाग्रत होने की प्रतीक्षा में

मैं अनन्त काल तक
प्रतीक्षा कर सकता हूँ भीम ![16]

नरेश मेहता के अनुसार इतिहास सदा राजाओं, वर्बरों और क्रूरों का होता है। मामूली अनाम आदमी का इतिहास नहीं लिखा जाता—

इतिहास
व्यक्ति को व्यक्ति नहीं
शस्त्र मानता है
अपने अन्धे उद्देश्य की पूर्ति में।[17]

इसीलिए नरेशजी इतिहास के हाथों वाण बनने की अपेक्षा अँधेरे में यात्रा करते हुए खो जाना अधिक अच्छा समझते हैं। उनके अनुसार, "इतिहास की सबसे बड़ी दुरभिसन्धि यह है कि वह राजनीतिक नृशंसता को सभ्यता की केन्द्रीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित तथा गौरवान्वित करता है और मानवीय उदात्तता एवं सद्‌गुणों को अप्रासंगिक एवं अवान्तर बनाता चलता है। जब तक इस इतिहास-दृष्टि के बारे में आमूल परिवर्तन नहीं होगा तब तक मानवीय कल्पद्रुमता सम्पूर्ण सामाजिक स्तर पर पुष्पित नहीं हो सकती।"[18]

ऊपर कवि ने जिस 'मानवीय कल्पद्रुमता' की बात की है वह उसकी कविता का केन्द्रीय स्वर है। नरेशजी आशा और आस्था के कवि हैं। उनके संस्कार वैष्णव संस्कार हैं। उनकी दृष्टि शिव-दृष्टि है। वैष्णव भक्ति उनको वंशपरम्परा से मिली है। उनके काव्य में भी एक मंगलकामी मानवीय दृष्टि मिलती है। इस सम्वन्ध में वे लिखते हैं, "बादल का अवतरण बादल के रूप में नहीं होता उसे जल होना पड़ता है। इसी प्रकार जल जब ऊर्ध्वता प्राप्त करता है तब वह अनिवार्यतः वाष्प रूप होता है। मेघ और जल में भेद हमारी बुद्धि का है। ऊर्ध्वोन्मुखता और अवतरणता दो भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। प्रत्येक प्रक्रिया का एक तर्क होता है और किसी की तर्क की अस्वीकृति कोई तत्त्व नहीं कर सकता है। वैष्णवी ऊर्ध्वोन्मुखता ही शिवत्व है और शिवत्व की अवतरणता ही वैष्णवता है। दर्शन और काव्यात्मकता का यह अनाविल चक्र ही धर्मचक्र है। धर्मचक्र जब ऊर्ध्वोन्मुखी होता है तब वह दर्शन होता है और जब वह अवतरण करता है तब काव्य होता है।"[19] दर्शन और काव्य का यह मिलाजुला रूप नरेश मेहता में मिलता है। उनकी कविताओं में प्रयुक्त गायत्री, महाभाव, लीलाभाव, वासुदेव, पाशुपत, वैष्णवता, शिवत्व, नारायणी, भागवत, वैश्वानर, वृन्दावन, भूमा, कल्पतरु, कदम्ब आदि शब्दों के दार्शनिक और साम्प्रदायिक अर्थों को जाने बिना उन्हें समझ पाना सम्भव नहीं है। कवि ने अपनी कविताओं में और अलग से भी इन शब्दों की खुद व्याख्याएँ की हैं। 'उत्सवा' (1979 ई.) की भूमिका में वह लिखता है, "व्यक्ति-विस्तार के बहुस्याम हो जाने की निष्पत्ति औपनिषदिकता है, तो

व्यक्ति-समर्पण की निष्णात प्रतिश्रुति वैष्णवता है। एक में परम विराट हो जाने की चिति है, तो दूसरे में एकान्त के सान्निध्य की तुष्टि। एक में ब्रह्माण्ड है तो दूसरे में वृन्दावन। एक में ताण्डव है तो दूसरे में लास्य। एक में यज्ञभाव है तो दूसरे में लीलाभाव; परन्तु यह भेद केवल देखने का है, होने का नहीं।...प्रयोजन और परिणति की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। उपनिषद यदि पुरुषार्थ भाव हैं तो वैष्णवता कृष्णार्पण। उपनिषद में यदि अर्जन का वर्चस्व है तो वैष्णवता में अनुकम्पा की प्रशान्तता। एक में यदि जाया गया है, तो दूसरे में जाना कहाँ है? एक में सर्वात्म संग्रह है, तो दूसरे में अनात्म के द्वारा सबकुछ का परित्याग। कवि और कविता की सारी मानसिकता, सृजनात्मकता को समझने में यह आध्यात्मिक भाषा, दृष्टि और सम्बन्ध सहायक हो सकते हैं।"[20] नरेश मेहता की यह स्वीकारोक्ति सही है कि उनकी मानसिकता को समझने के लिए उनकी आध्यात्मिक भाषा को समझना जरूरी होगा। उनकी कविता में औपनिषदिक-वैष्णव शव्दावली भरी पड़ी है। उनकी दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। वे सामान्य आँखों से सृष्टि को नहीं देखते। वे सृष्टि की परायथार्थवादी सत्ता को अभिव्यक्त करते हैं—

तुम जिसे पेड़ कहते हो
वह मात्र पेड़ ही नहीं
वह वानस्पतिक श्लोक है

× ×

धरती के प्रार्थना-पदों सी
आलाप लेतीं ये पगडण्डियाँ

× ×

हमारे लिए मनुष्य मात्र
हमारे लिए गन्ध मात्र
हमारे लिए रंग मात्र
वेद-पाठ है
यज्ञ-ध्वनि है
उत्सव-गान है
कभी अपनी वैयक्तिकता को
इतनी विशाल स्वर-लिपि में बजने दो बन्धु![21]

कवि को सारी सृष्टि में एक अजीब भाषा सुनायी पड़ती है—

धरती को कहीं से छुओ
एक ऋचा की प्रतीति होती है।

देवदारुओं की देहयष्टि
क्या उपनिषदीय नहीं लगती ?
तुम्हें नहीं लगता कि
इन भोजपत्रों में
एक वैदिकता है
जिसका साक्षात नहीं किया गया है ?

× × ×

इसीलिए मैं एक भाषा का अनुभव करता हूँ
जो ग्रन्थों में नहीं होती
पर प्रायः जिसे मैंने
भाषाहीन वनस्पतियों में सुना है।[22]

नरेश मेहता 'आकाश', 'वनस्पति' और 'फूल' शब्द का बार-बार प्रयोग करते हैं लेकिन ये शब्द उनके लिए अपने विशिष्ट अर्थ रखते हैं। 'फूल' उनके लिए समर्पण का, आत्मदान का प्रतीक होता है—

अपने में से फूल को जन्म देना
कितना उदात्त होता है
यह केवल वृक्ष जानता है
और फल—
वह तो जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यों का फल है।

× × ×

मेरी भाषा
मेरे शब्द और
मेरी रचना—
इन्हें मैं समय को वैसे ही दे देना चाहता हूँ
जैसे कि वृक्ष
फूलों को अनाम दे देते हैं।[23]

कहना न होगा कि नरेश मेहता की यह आध्यात्मिक-दार्शनिक दृष्टि, उनकी यह औपनिषदिक-वैष्णव शब्दावली आज की काव्य-दृष्टि और आज की काव्य-भाषा से बिल्कुल अलग है। नरेश मेहता इससे अनजान नहीं हैं। इसीलिए वे अपने को आज के कवियों से अलग करते हैं। वे कविता का अलग से कोई प्रयोजन नहीं मानते। उनके अनुसार, "कविता का अर्थ भी कविता से पृथक् नहीं होता। कविता स्वयं अपना अर्थ उसी प्रकार है जिस प्रकार फूल अपना ही अर्थ भी होता है।"[24] नरेश मेहता उन आँखों का विरोध करते हैं जो केवल पदार्थ देखनेवाली आँखें हैं। 'एक प्रश्न' शीर्षक अपनी कविता में वे दैवीय सम्पदा के साथ मनुष्य के पदार्थवादी सलूक का विरोध करते हैं।[25] इस प्रकार वे अपने को समकालीन मुहावरे से

बिल्कुल अलग कर लेते हैं। उनके अनुसार अनुकरण काव्य के कारण हमेशा मौलिक कवियों और कविता को उलझन होती है। नरेश मेहता का काव्य आज की काव्य-प्रवृत्ति से बिल्कुल अलग दीखता है। उसका अपना अलग स्वाद है। यह उसका वैशिष्ट्य भी है और उसकी सीमा भी।

सन्दर्भ

1. दे., दूसरा सप्तक
2. वही, पृ. 116-117
3. महाप्रस्थान, पृ. 138
4. बोलने दो चीड़ को, पृ. 52
5. वही, पृ. 61-62
6. दूसरा सप्तक, पृ. 112-113
7. वही, पृ. 128, 132
8. वही, पृ. 126
9. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. 27
10. वही पृ. 21, 23
11. वही, पृ. 11
12. दूसरा सप्तक, पृ. 118, 122
13. वही, पृ. 123
14. संशय की एक रात, पृ. 24, 61
15. महाप्रस्थान, पृ: 112, 123
16. वही, पृ. 98
17. संशय की एक रात, पृ. 100
18. महाप्रस्थान, भूमिका, पृ. 10
19. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. 82
20. उत्सवा, भूमिका, पृ. 19-20
21. वही, पृ. 29, 58
22. वही, पृ. 49-50
23. वही, पृ. 29, 86
24. वही, पृ. 20
25. वही, पृ. 60-61

अर्थ और मूल्य की खोज

भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
वन जायेंगे सार्थक समतल
ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम भर है
मेरी आकुल प्रतिभा
अर्पित रसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी।[1]

भारती (1926 ई.) का काव्य अर्थ की या कहें कि सार्थकता की खोज है। उस नयी भावभूमि की खोज है जिसका संकेत कवि ने ऊपर की पंक्तियों या अपनी अनेक कविताओं और भूमिकाओं या लेखों में किया है। 'ठण्डा लोहा' की भूमिका में वह लिखता है, "कैशोरावस्था के प्रणय, रूपासक्ति और आकुल निराशा से एक पावन, आत्मसमर्पणमयी वैष्णव भावना और उसके माध्यम से अपने मन के अहम् का शमन कर अपने से बाहर की व्यापक सच्चाई को हृदयंगम करते हुए संकीर्णताओं और कट्टरता से ऊपर एक जनवादी भावभूमि की खोज—मेरी इस छन्दयात्रा के यही प्रमुख मोड़ रहे हैं।···मैं अपना पथ बना रहा हूँ। जिन्दगी से अलग रहकर नहीं, जिन्दगी के संघर्षों को झेलता हुआ, उसके दुख-दर्द में एक गम्भीर अर्थ ढूँढ़ता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जनव्यापी सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास करता हुआ।···जिससे विराट जीवन, उसका सुख-दुख, उसकी प्रगति और उसका अर्थ व्यक्त हो सके। यही मेरी कविता की सार्थकता होगी।"[2] 'सात गीत वर्ष' की भूमिका में कवि पुनः लिखता है, "अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक संसार, क्षण और निरवधि काल

के बीच अँधेरी राह पर कहीं एक भूमि है जहाँ शून्य को पराजित कर हम 'रचते' हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए।"[3] तात्पर्य यह कि भारती का रचनाकार एक अर्थ पाने के लिए—एक अर्थ व्यक्त करने के लिए बेचैन है और इसके लिए वह किसी नयी भावभूमि का—एक सार्थक समतल का—खोज करना चाहता है। भारती की कविताओं में 'अर्थ' शब्द का जितनी बार प्रयोग हुआ है उतनी बार शायद किसी अन्य शब्द का नहीं। 'कनुप्रिया' में तो यह शब्द बार-बार आता है। कविता में 'अर्थ' शब्द का इतनी बार प्रयोग प्रमाण है कि कवि अपनी कविता में जीवन का अर्थ ढूँढ़ने के लिए बेचैन है। कभी वह अपनी घड़ियों, शामों और अपने लमहों का अर्थ जानना चाहता है—

ये घड़ियाँ, ये शामें, ये लमहे
जो मन पर कोहरे से जमे रहे
निर्मित होने के क्रम में
क्या
इनका कोई अर्थ नहीं ?[4]

कभी वह इतिहास का अर्थ समझना चाहता है—

आसपास जाने कितना है तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ मुझे समझ नहीं आता है।[5]

कभी वह शब्दों का अर्थ जानना चाहता है—

शब्द···शब्द···शब्द···
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व
मैंने भी गली-गली सुने हैं ये शब्द
अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो
मैं इन्हें सुनकर कुछ भी नहीं पाती प्रिय[6]

और कभी वह सम्पूर्ण अस्तित्व और सृष्टि का अर्थ ढूंढ़ना चाहता है। 'इस सारे सृजन, विनाश, प्रवाह और अविराम जीवन-प्रक्रिया का अर्थ' पाना चाहता है—

यह काल की अनन्त पगडण्डी पर
अपनी अनथक यात्रा तय करते हुए सूरज और चन्दा,
बहते हुए अन्धड़
गरजते हुए महासागर
झकोरों में नाचती हुईं पत्तियाँ
धूप में खिले हुए फूल, और
चाँदनी में सरकती हुईं नदियाँ
इनका अन्तिम अर्थ आखिर है क्या ?[7]

आखिर वह कौन-सा अर्थ है जिसके लिए कवि ने अपनी कविताओं में

इतनी बेचैनी जाहिर की है और जिसे वह ढूंढ़ना या व्यक्त करना चाहता है ? इस अर्थ का संकेत कवि ने एकाधिक स्थलों पर अपनी कविताओं और गद्य-रचनाओं में दिया है। 'मूल्यपरक दायित्व', 'स्वातन्त्र्य और दायित्व की सामंजस्यमयी मर्यादा', 'अन्तरात्मा की पुनर्प्रतिष्ठा', 'आस्था, विवेक और साहस', 'मनुष्य के विकल्प की स्वतन्त्रता और संकल्प की गरिमा' आदि की चर्चा कवि ने बार-बार की है। वह लिखता है, "वस्तुतः मानवीय गरिमा के प्रति संवेदनाजन्य अन्तरात्मा की पुनःप्रतिष्ठा का एक वेदनापूर्ण दायित्व है जिसका निर्वाह हमें प्रतिक्षण करना पड़ता है। वे ही अर्थवान क्षण हैं, आत्मोपलब्धि के क्षण हैं, आत्मोपलब्धि के—क्योंकि उन्हीं में हम अपने को पाते हैं—अर्थात् अर्थहीन शून्यता या अयथार्थमूलक अनस्तित्व से मुक्त कर अपने को सार्थक पाते हैं।"[8] इसी प्रसंग में वह अन्यत्र लिखता है, "मूल्यपरक दायित्व को स्वीकार न कर जो मूल्यहीन स्वतन्त्रता पर ही आग्रह करते हैं उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहासायुक्त, दिशाहीन भूलभुलैया में भटक जाती है।"[9] स्वातन्त्र्य और दायित्व की इस सामंजस्यमयी मर्यादा को कवि ने बहुत महत्त्व दिया है। इसी को उसने 'नयी भावभूमि' या 'सार्थक समतल' कहा है और उसके अनुसार यही मानव-भविष्य की रक्षा कर सकती है—

> पर एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में
> साहस में, स्वतन्त्रता में, नूतन सर्जन में,
> वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
> दायित्व युक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में
> उतना जो अंश हमारे मन का है
> वह अर्द्ध-सत्य से, ब्रह्मास्त्रों के भय से,
> मानव-भविष्य को हरदम रहे बचाता
> अन्धे संशय, दासता, पराजय से।[10]

अन्धे संशय, दासता, पराजय से मानव भविष्य को बचाने के लिए भारती ने मानवीय सम्भावनाओं की खोज की है। 'अन्धायुग' की प्रस्तावना में वे लिखते हैं, "पर एक नशा होता है—अन्धकार के गरजते महानगर की चुनौती स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतरते जाने का और फिर अपने को सारे खतरों में डालकर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कणों को बटोरकर, बचाकर, धरातल तक ले आने का—।"[11] आस्था, प्रकाश, सत्य और मर्यादा के इन कणों को बटोरने के प्रयास में या कहें कि मानवीय सम्भावनाओं को ढूंढ़ने के प्रयास में भारती ने मिथकों की नवीन व्याख्या की है। 'अन्धायुग', 'कनुप्रिया' या 'प्रमथ्यु गाथा' की रचना इसी का परिणाम है। 'अन्धायुग' के पात्र ऐतिहासिक-पौराणिक होते हुए भी विशिष्ट अन्तर्प्रवृत्तियों के प्रतीक

हैं। यह प्रतीकात्मकता 'अन्धायुग' को मात्र पौराणिक कथा से आगे मानव के अन्तर्जगत का एक अर्थपूर्ण काव्य बना देती है—

उस दिन जो अन्धायुग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं वह रह-रहकर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है
हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
है दास-वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।[12]

इसी अँधियारा, दासवृत्ति, संशय और पराजय से मुक्ति के लिए कवि ने साहस, स्वतन्त्रता, दायित्वयुक्त मर्यादित मुक्त आचरण की बात की है। वह विवेक में अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश करता है। वह आस्था में अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश करता है। वह घृणा की नदी को बाँधना चाहता है।[13] वह साहस, संकल्प और स्वातन्त्र्य में अर्थ ढूँढ़ना चाहता है।[14] वह हर दर्द को एक नये अर्थ तक ले जाना चाहता है।[15] वह आदमी की सृजन-शक्ति को सबके ऊपर मानता है—

भूख, लाचारी, गरीबी हो मगर
आदमी के सृजन की ताकत
इन सबों की शक्ति के ऊपर[16]

कवि को ऐसा लगता है कि इतिहासों की सामूहिक गति के सहसा झूठी पड़ जाने पर सच्चाई को टूटे हुए पहियों का आश्रय लेना पड़ सकता है।[17] शायद इसीलिए कवि उस क्षण को महत्त्व देता है जो अन्दर साक्षात्कृत होता है—जो चरम तन्मयता का क्षण है। यहाँ वह एक दूसरे बिन्दु से अपने अर्थ की खोज करता है। 'कनुप्रिया' इसी खोज का परिणाम है जिसकी "मूलवृत्ति संशय या जिज्ञासा नहीं, भावाकुल तन्मयता है।"[18] 'कनुप्रिया' की भूमिका में वह लिखता है, "लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है—महत्त्व उसका नहीं है—महत्त्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे वाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है, जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है—इस तरह कि समस्त वाह्य-अतीत, वर्तमान और भविष्य—सिमटकर उस क्षण में पुंजीभूत हो गया है, और हम हम नहीं रहे!"[19] कनुप्रिया के लिए कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व, पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड, क्षमा-शील आदि सबकुछ चरम साक्षात्कार के उस गहरे क्षण के सम्मुख छोटा जान पड़ता है। वह पूछती है—

मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?[20]

यही बेचैनी भारती के काव्य की मुख्य जमीन है और उनका काव्य-संसार इसी सार्थकता की खोज है।

भारती ने प्रकृति और नारी-प्रेम की जमीन पर भी बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। प्रकृति के अनेक मोहक चित्र उनकी कविताओं में मिलेंगे। ऋतुओं और महीनों का विस्तृत वर्णन तथा दुपहरी, शाम और दिन ढलने के अनेक चित्र उनकी कविताओं में मिलते हैं। शाम के सबसे अधिक चित्र उनकी कविताओं में हैं। 'फागुन की शाम', 'घबराहट की शाम', 'कस्बे की शाम', 'साँझ के बादल', 'यह ढलता दिन', 'शाम : दो मनःस्थितियाँ', 'शाम : एक थकी लड़की', 'जाड़े की शाम'—जैसे कविता शीर्षक शाम के प्रति कवि की गहरी रुझान के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त शरद का चाँद, कमल की छाँव, रसमसाती धूप, सोनजुही, सान्ध्य विहग, मदभरी चाँदनी, पुरवैया, अमराई, बासन्ती दिन, बिजुरी की चुनरी, किरन, शबनम, इन्द्रधनुष, प्रभात, लहर, आकाश, मधुमास, क्वार की बदली आदि के चित्र भी बहुत आकर्षक हैं। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि ग्राम्यजीवन और ग्राम्य-प्रकृति को बड़ी ललक के साथ कवि ने अपनी कविताओं में उतारा है। हरे खेत, कच्ची पगडण्डी, मेड़, डगर, टीले, ताल, आँगन, छत, मुड़ेर, गली, झरोखे आदि—भारती की कविताओं में बार-बार आते हैं। इतना ही नहीं गाँव की बोली और शब्दों के ग्राम्यरूपों का भी बेहद प्रयोग भारती की कविताओं में हुआ है। निदियारी, अँजुरी, संझा, बिरिया, अँबवा तरे, डगरिया, बँसवट, दुपहरिया, अन्हरिया, सुनहरिया, गोर, साँवर, निदिया, उचटाना, बतियाना आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। पर इन शब्दों में कवि के इन्वाल्वमेण्ट से अधिक उसकी रस लेने की प्रवृत्ति झलकती है। इनमें एक प्रकार का पलायन है—महानगरीय मन का गाँव की ओर पलायन। वर्तमान का बीते दिनों की ओर पलायन। वर्षों बाद एक भीड़-भरे महानगर से लौट-कर एक कच्चे टुटहे आँगन में या किसी पगडण्डी के किनारे किसी पेड़ के नीचे बैठकर जो सुख होता है वही सुख भारती को इन शब्दों में मिलता है—

इस अधकच्चे से घर के आँगन
में जाने क्यों इतना आश्वासन
पाता है यह मेरा टूटा मन

× ×

बरसों के बाद उसी सूने से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना

रिसती-सी यादों से पिरा-पिरा उठना
मन का कोना कोना[21]

वैसे भी भारती की कविताओं में यादों का विवरण अधिक है। वे एक मोह के साथ पीछे देखते हैं। 'शाम' और 'दिन ढलने' के एकाधिक चित्र एक उदासी पैदा करते हैं। 'न जाने कौन,' 'न जाने क्यों', 'दूर कहीं', 'फिर वही', 'भूली बात', 'बिसरी बात', 'बरसों बाद', 'सुनसान सन्नाटा', 'अजनबी', 'अनकही', 'टीस', 'रीतना', 'दर्द' आदि अनेक शब्द-प्रयोग भारती की कविता को एक रूमानी दुनिया में ले जाते हैं—अतीत के उस संसार में जिसके लिए कवि में मोह है और जिससे दूर होने का पश्चात्ताप भी।

प्रकृति के समान ही नारी-सौन्दर्य के प्रति भी कवि भारती का गहरा आकर्षण है। भारती के काव्य में—विशेष रूप से अनेक आरम्भिक काव्य में—नारी-शरीर के अनेक सुन्दर कल्पना-चित्र मिलते हैं। नारी के अंग-अंग के चित्र, उसके अनेक सौन्दर्य-प्रसाधनों के चित्र, युवती नारी और विशेष रूप से ग्रामीण युवती के चित्र बड़े ही मोहक और आकर्षक हैं। कवि ने अपने जिस उजले, कोमल, पारदर्शी प्यार और नाजुक मिलन का वर्णन किया है वह बड़ा ही दिव्य है—

बौर लदी नाजुक टहनी-सी इस देह की
हल्की गरमाई को केवल महसूस किया
... ...

मैंने कुछ नहीं किया
धीमे से तुम्हारे माथे पर झुके
रूखे हठीले एक कुन्तल को
होंठों से सँवार दिया
... ...

क्या तुमको कभी भी
किसी ने भी
इतना उजला, कोमल, पारदर्शी प्यार दिया ?[22]

इस उजले, कोमल, पारदर्शी प्यार ने भारती की कला-संवेदना को बहुत समृद्ध किया है। नारी-शरीर और नारी-पुरुष मिलन तथा आलिंगन, चुम्बन आदि के अनेक कल्पना-चित्रों में कवि की स्पर्श, गन्ध और रंग-संवेदना का सूक्ष्म परिचय मिलता है। रंगों से भारती को विशेष प्रेम है। जाफरानी तन, चम्पई वक्ष, फिरोजी होंठ, मूँगे के होंठ, अरुन गुलाबी नैन, कंचन तन, गोरी बाँहें, गोर-साँवर उँगलियाँ, मूँगिया बादल, गुलाबी पाँखुरी, सुरमई आभा, रतनारी किरनें, चाँदी के निर्झर, कत्थई फूल, बादलों की नील जमुनी छाँह, चाँदी के हिरन, चन्दन मन, चन्दन कसाव, मृनालों की

मुलायम बाँह, बादल धुली कचनार नरमाई, अधखुले बाल, उन्मन पलकें, केसर की उसाँस, अल्हण तरुणाई, देहलता, गजरे-सी बाँह आदि अनेक प्रयोगों में न केवल प्रकृति और नारी के विशिष्ट चित्र मिलते हैं वरन् कवि की स्पर्श, गन्ध और रंगचेतना का भी सूक्ष्म परिचय मिलता है। कवि के अनेक कल्पना-चित्रों में प्रकृति और नारी-सौन्दर्य एक-दूसरे में गुँथकर घुल-मिल गया है—

कमल लतरें
मृणालों की स्नान-शीतल
बाँह फैलाकर
उभरते फूल-यौवन के
कसे-से बन्द ढीले कर
बदलती करवटें[23]

× × ×

भीगे केशों में उलझे होंगे थके पंख
सोने के हंसों-सी धूप यह नवम्बर की
उस आँगन में भी उतरी होगी
सीपी के ढालों पर केसर की लहरों-सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी बिन आहट
गदराहट बन-बन ढली होगी अंगों में[24]

× × ×

नींद भरी तरलायित, बड़री, कटावदार आँखें मूंद
शाम—
एक सफर में थकी हुई लड़की-सी
आयी और मेरे साथ बैठ गयी।[25]

भारती की कविता में प्रेम के प्रति सहज स्वीकार-भाव प्राप्त होता है। वे इस बात को अस्वीकार करते हैं कि वासना आदमी को नीचे ले जाती है। नारी के प्रति सहज आकर्षण और पावन समर्पण को कवि ने पाप-पुण्य से दूर होकर सहज भाव से स्वीकार किया है—

अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझको पाप कैसे हो ?
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो ?[26]

सेक्स के प्रति कवि का यह सहज स्वीकार-भाव भी एक प्रकार से उसकी अर्थ की खोज की ही एक दूसरी दिशा है। मिथकों की व्याख्या द्वारा यदि वह आस्था, प्रकाश, सत्य और मर्यादा के कणों को बटोरना चाहता है तो सेक्स के सहज स्वीकार द्वारा व्यक्ति मुक्ति की एक दूसरी दिशा में बढ़ना

चाहता है—कुण्ठाओं को त्यागकर स्वस्थ और सहज होना चाहता है। 'गुनाहों का देवता' में वह लिखता है, "प्रेम की समस्या को लेकर हमारी उगती हुई पीढ़ी के अन्तर्मन में विचित्र गुत्थियाँ पड़ जाती हैं जो देखने में हास्यास्पद मालूम देती हैं लेकिन जिनके परिणाम एवं प्रतिक्रियाएँ कभी-कभी बहुत भयानक होते हैं।··· इतनी भावात्मक उलझनें हमारी सामाजिक व्यवस्था द्वारा बिछा दी जाती हैं जो उन्हें जीवन-भर के लिए निःसत्व, पंगु और कायर बना देती हैं। वह अपने अहम् और अपने सेक्स की अस्वस्थताओं से ऊपर उठ ही नहीं पाता।"[27] "इसीलिए भारती ने सबसे पहले लिखे सरलतम भाषा में रंग-बिरंगी चित्रात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना और उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत, जो न तो मन की प्यास को झुठलायें और न उसके प्रति कोई कुण्ठा प्रकट करें। जो सीधे ढंग से पूरी ताकत से अपनी बात आगे रखें। आदमी की सरल और सशक्त अनुभूतियों के साथ-साथ निडर खेल सकें, बोल सकें।"[28] इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारती ने जिस भावभूमि की कविताएँ लिखी हैं उस अनुभव-संसार को वे पूरे साहस के साथ खोलती हैं पर इतना होते हुए भी भारती के सम्पूर्ण काव्य को देखकर यह लगता है कि वह आधुनिक मानव की विडम्बनापूर्ण नियति को उतना नहीं चित्रित करता न उसकी क्रूर भयावह त्रासदी को सही और यथार्थ भाषा देने के लिए उतना बेचैन प्रतीत होता है। इसका कारण शायद यही है कि भारती अतीत के एक सुखद रूमानी संसार का मोह नहीं तोड़ पाते। 'अन्धायुग' अवश्य ही इस सन्दर्भ में एक हद तक अपवाद माना जा सकता है।

सन्दर्भ

1. सात गीत वर्ष, प्रथम संस्करण, पृ. 53
2. ठण्डा लोहा, भूमिका
3. सात गीत वर्ष, भूमिका, पृ. 13
4. सात गीत वर्ष, ('इनका अर्थ' शीर्षक कविता) पृ. 50
5. कनुप्रिया, तृतीय संस्करण, पृ. 70
6. वही, पृ. 72
7. वही, पृ. 43
8. मानव मूल्य और साहित्य, पृ. 35
9. वही, पृ. 128
10. अन्धायुग
11. वही
12. वही
13. दे., सात गीत वर्ष, पृ. 78-80

14. दे., सात गीत वर्ष, प्रमथ्यु गाथा, पृ. 19-28
15. ठण्डा लोहा, पृ. 87-88
16. दूसरा सप्तक, पृ. 188
17. सात गीत वर्ष, टूटा पहिया, पृ. 92-93
18. कनुप्रिया, भूमिका
19. वही
20. वही, पृ. 71
21. सात गीत वर्ष, पृ. 62-65
22. वही, पृ. 129
23. ठण्डा लोहा, पृ. 77-78
24. सात गीत वर्ष, पृ. 32
25. वही, पृ. 122
26. ठण्डा लोहा, पृ. 22
27. गुनाहों का देवता, पृ. 6
28. दूसरा सप्तक, पृ. 165

बृहत्तर जिज्ञासा का काव्य

आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय···

जिसकी जिन्दगी का यही आशय
यही इतना भोग्य,
कितना सुखी है वह,
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य !

हाय, पर मेरे कलपते प्राण,
तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन मान
जिसकी इन्द्रियों से परे
जाग्रत हैं अनेकों भूख !

'चक्रव्यूह' (1956 ई.) संग्रह की 'आशय' शीर्षक उपर्युक्त कविता में कुँवरनारायण (1927 ई.) ने अपनी कविता का आशय बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया है। उपर्युक्त पंक्तियों से जाहिर है कि केवल भूख और सेक्स ही कुँवरनारायण के लिए जिन्दगी का सबकुछ नहीं है। इनके अलावा भी बहुत कुछ है। इन्द्रियों से परे भी अनेक भूख हैं। जिन्दगी में जिन्दगी से बड़ा भी कुछ है। यही कुँवरनारायण की कविता की उच्चतर भावभूमि है—

क्योंकि मुझमें पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी
जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर
कुछ सम्बन्ध रखती उन परायी पंक्तियों से।[1]

कुँवरनारायण चिन्तक मिजाज के कवि हैं। उन्हीं के शब्दों में, "कवि मूलतः विचारक नहीं, आवश्यकतः विचारक भी है। उसका काम हमें बौद्धिक बनाना नहीं, बुद्धिमत्ता के प्रति संवेदनशील बनाना है; हमारी समझ के उपकरणों को पैना रखना है ताकि हम वास्तविकता को बुद्धि, मन

और प्रज्ञा के विभिन्न स्तरों पर साथ-साथ ग्रहण कर सकें।"[2] कुँवरनारायण केवल अनुभव को पर्याप्त नहीं मानते। वे उस अनुभूति और मननशक्ति को जरूरी मानते हैं जो अनुभव के प्रति तीव्र और विचारपूर्ण प्रतिक्रिया कर सके।[3] कहना न होगा कि कुँवरनारायण की कविता इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है। उनकी कविता में भावनाओं का अवेग नहीं, एक प्रकार का संयम है। वह प्रौढ़ तथा विचारपूर्ण कविता है। जीवन और उसकी सार्थकता के प्रति एक विशेष प्रकार की सचेतता कुँवरनारायण की कविता में शुरू से ही मिलती है। 'मृत्यु', 'अमरत्व', 'नियति', 'शून्य', 'ईश्वर', 'विराट', 'अज्ञात' जैसे शब्दों का उनकी कविता में एकाधिक बार प्रयोग होता है। एक प्रकार का रहस्य और एक विशिष्ट प्रश्नाकुल मुद्रा उनकी कविता में बनी रहती है। अस्तित्व को पहचानने की चिन्ता, अकेलापन, मृत्यु का भय उनकी कविता में विशेष रूप से दिखायी पड़ता है। यह केवल अस्तित्ववादी विचारकों का ही मत नहीं है बल्कि अपने-आपमें निर्भ्रान्त तथ्य है कि मृत्यु के क्षण में ही जीवन की सार्थकता का सर्वाधिक तीव्र अनुभव होता है। कुँवरनारायण का अभिमन्यु चक्रव्यूह में, अपनी मृत्यु के निष्पक्ष समयातीत घेरे में घिरे अस्तित्व का हर पक्ष पहचानता है।[4]

इस सन्दर्भ में कुँवरनारायण के महत्त्वपूर्ण काव्य 'आत्मजयी' (1965 ई.) का उल्लेख प्रासंगिक होगा। इस काव्य की भूमिका में वे लिखते हैं, "आत्मजयी में उठायी गयी समस्या मुख्यत: एक विचारशील व्यक्ति की समस्या है—केवल ऐसे प्राणी की समस्या नहीं जो दैनिक आवश्यकताओं के आगे नहीं सोचता या नहीं सोच पाता।···उसके अन्दर वह वृहत्तर जिज्ञासा है जिसके लिए केवल सुखी जीना काफी नहीं, सार्थक जीना जरूरी है।···नचिकेता की चिन्ता भी अमरजीवन की चिन्ता है। अमर-जीवन से तात्पर्य उन अमर जीवन-मूल्यों से है जो व्यक्ति का अतिक्रमण करके सार्वकालिक और सार्वजनीन बन जाते हैं।···"आत्मजयी—मूलत: जीवन की सृजनात्मक सम्भावनाओं में आस्था के पुनर्लाभ की कहानी है।"[5]

ऊपर की पंक्तियों में 'वृहत्तर जिज्ञासा', 'सार्थक जीना', 'अमर जीवन-मूल्य' तथा 'आस्था का पुनर्लाभ' जैसे प्रयोगों पर गौर करना जरूरी है। क्योंकि न केवल 'आत्मजयी' के नचिकेता की बल्कि कुँवरनारायण के सम्पूर्ण काव्य की मुख्य चिन्ता यही है। नचिकेता भौतिक तात्कालिक जीवन से ऊपर एक दृष्टि की तलाश करता है। उसके सामने शाश्वत प्रश्न है—"जीवन क्या? मृत्यु क्यों? मुक्ति कैसे? ईश्वर कहाँ?" ये प्रश्न अस्तित्व के बुनियादी प्रश्न हैं। कुँवरनारायण के अनुसार ये प्रश्न अनास्तित्व की उस भयानक शून्यता से उपजते हैं जिसके विषय में पास्काल कहते हैं, "अनन्त विस्तार का अटूट मौन मुझे भयभीत करता है।"[6] आत्मजयी में उठायी

गयी यह समस्या जितनी ही पुरानी है उतनी ही नयी। नचिकेता उपनिषद का पात्र है पर उसकी मनःस्थिति आधुनिक व्यक्ति की मनःस्थिति है। उसका संकट आज के मनुष्य का संकट है। इस संकट को व्यक्त करनेवाला वह एक अत्यन्त सार्थक समर्थ प्रतीक है—

चारों ओर लौह-मौन गुम्बद-सा अन्धकार
जिसकी दीवारों से टकराती आवाजें ये
केवल सन्नाटे को और झनझनाती हैं।
...   .

एक घर
जिसमें न दरवाजे
न बाहर निकलने के रास्ते,
केवल दीवारें,
पेंचदार अन्धे गलियारे
और एक सहमी आवाज का
दबे पाँव पीछा करते
हत्यारे !
...   .

समय के केंचुल सरीखा रास्ता।
मारकर खाया हुआ-सा पड़ा
चारों ओर खाली नगर—पंजर...
लुंज दीवारें—
सहारे
डरी, सिकुड़ी पड़ी
कुछ परछांइयाँ।
...   .

आह, हत मन पुनः सो जा
नींद यदि आये—
विश्व का वह रूप सुन्दर
छेंक लेता जो तचित मन,
हो सके तो पुनः खो जा किसी छल में।
स्वप्न से बाहर न आ,
मत उतर गहरे,
वहाँ केवल मृत्यु-भय से ढके चेहरे।
दूर तक, बस, दीख पड़ती
एक धुंधली लीक छूटे चरण-चिह्नों की—
और हारी हुई हाँकें

माँझियों की
थरथराकर जो अचानक विकट चुप में
डूब जाती नाचती गहराइयों में···[7]

यह भी ध्यान देने की बात है कि कुँवरनारायण की कविता में हत्या, आत्महत्या, मृत्यु, भय, सन्देह आदि के चित्र अधिक हैं। 'हत्यारा', 'रक्त', 'रस्सी', 'फन्दा', 'कैद', 'फौज', 'बन्दूक', 'पहरेदार', 'गोली', 'लाश', 'छुरा', 'जोखम', 'साहस', 'विश्वासघात', 'भय', 'शंका' आदि शब्द उनकी कविता में कवि की केन्द्रीय चिन्ता को व्यक्त करते हैं। कवि मनुष्य की स्वतन्त्रता को दबोचनेवाली क्रूर, आतंकवादी सत्ता के विरुद्ध है। उस सत्ता की क्रूरता और उसके व्याप्त भय को कवि ने बार-बार उभारा है—

वह जानता है कि वे फिर आनेवाले हैं
और उसके लिए, बदस्तूर, एक हुक्म लानेवाले हैं
कि अपना घर फौरन खाली करो।[8]
... ...
खामोशी जिसकी अपनी जबान होती है
और भयानकता
जैसे एक मटमैली जिल्दों वाली किताब
अचानक एक रात कहीं से खुल जाय
और बीच में दबी मिले एक कटी हुई जीभ
और वह निकल पड़े
अपने बाकी हिस्सों की तलाश में।[9]
... ...
उनके अफसर, सिपाही और कोतवाल—
उनके सलाहकार, मसखरे और नक्काल—
उनके दरबारी और उनके नमकहलाल—
उनके मुसाहिब, खुशामदी और दलाल—
चारों तरफ
छा गये हैं। वे सब के सब
वापस आ गये हैं।[10]

वे सबके सब वापस आ गये हैं। एक आक्रमण करनेवाली बर्बर ताकत की उपस्थिति कवि को महसूस होती है—ठीक 'अपने सामने'। वह सोचता है क्या फेंककर वह अपने को बचा ले—

कुछ ठहर-सा गया है मेरे बिल्कुल पास
मुझे सूंघता हुआ।
किसी भी क्षण
आक्रमण कर सकने वाली

एक बर्बर ताकत। वह
क्या चाहता है ?

क्या है मेरे पास
उसको देने लायक
जिसे उसकी तरफ फेंककर
अपने को बचा लूँ ?[11]

कवि यह तो नहीं बताता कि वह क्या फेंक दे उस बर्बर ताकत के सामने लेकिन यह जरूर बताता है कि क्या बचा ले अपने भीतर—

तेज से तेजतर के बीच समय में
किसी दुनियादार आदमी की दुनिया से
हटाकर ध्यान
किसी ध्यान देनेवाली बात को,
तब जरूरी लगता है जिन्दा रखना
उस नैतिक अकेलेपन को
जिसमें बन्द होकर
प्रार्थना की जाती है
या अपने से सच कहा जाता है
अपने से भागते रहने के बजाय।[12]

इस 'नैतिक अकेलेपन' और 'सच' को कवि की कविताएँ बार-बार रेखांकित करती हैं एक दुनियादार अवसरवादिता के विरुद्ध। क्योंकि साहस और निर्भीकता में ही मनुष्यता की जय पहचानी जाती है—

उसकी लटकी हुई छाती, धँसा हुआ पेट, झुके हुए कन्धे, वह
कोन है हमेशा जिसकी हिम्मत नहीं केवल घुटने तोड़े जा सके ?

उसके ऊँचे उठे सिर पर एक बोझ रखा है
काँटों के मुकुट की तरह
बस इतने ही से पहचानता हूँ
आज भी
उस मनुष्य की जीत को।[13]

समकालीन मनुष्य की चिन्ताओं को कवि इतिहास की यादों में मिलाकर और भी तीखी कर देता है। 'कुतुबमीनार' और 'इब्नेबतूता' शीर्षक कविताएँ इसी प्रकार की हैं—

क्या मैं फिर किसी नये सितारे के समारोह में शामिल हूँ ?
... ...
दिन में भी इतना अँधेरा
या सुल्तान अन्धा है

जिसकी अन्धी आँखों से मैं देख रहा हूँ
मशाल की फीकी रोशनी में छटपटाता
तवारीख का एक पन्ना ।[14]

आज की हिन्दी कविता वादग्रस्त कविता है। आज के अधिकांश कवि न केवल राजनीतिक स्थितियों के साक्षात्कार को बल्कि किसी-न-किसी वैचारिक खेमे के अनुशासन को महत्त्व देने लगे हैं । यह प्रवृत्ति आज की आलोचना में इस कदर हावी है कि खेमे से दूर रहकर किसी भी कवि का चर्चित हो पाना प्रायः कठिन हो गया है। हर गुट के आलोचक अपने गुट के कवियों का नाम उछालने में लगे हैं । ऐसी स्थिति में कविता दब गयी है, गुटबन्दी प्रमुख हो गयी है । कुछ थोड़े-से कवि जो इस गुटबन्दी से दूर रहकर स्वतन्त्र रचना को महत्त्व देते हैं उनमें कुँवरनारायण भी एक हैं। कुंवरनारायण कवि के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण आवश्यक मानते हैं पर उनके अनुसार वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मतलब किसी प्रकार का पूर्वग्रह नहीं है। कलाकार के लिए वे सहिष्णुता और उदारता जरूरी मानते हैं । उन्हीं के शब्दों में, "कलाकार या वैज्ञानिक के लिए जीवन में कुछ भी अग्राह्य नहीं : उसका क्षेत्र किसी वाद या सिद्धान्त विशेष का संकुचित दायरा न होकर वह सम्पूर्ण मानव-परिस्थिति है जो उसके लिए एक अनिवार्य वातावरण बनाती है और जिसे उसका जिज्ञासु स्वभाव बराबर सोचता-विचारता रहता है ।···मेरे लिए स्थापित सत्य—चाहे वे राजनैतिक हों, चाहे सामाजिक, चाहे शास्त्रीय—उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी वह बुद्धि जिसने उन सत्यों को जन्म दिया ।"[15] यथार्थ के प्रति अतिसरलीकृत धारणा में कुँवरनारायण विश्वास नहीं करते। अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं, "मनुष्य से मतलब केवल आर्थिक मनुष्य नहीं—और मुझे वह साहित्य पसन्द है जो इस फर्क को महसूस करता और कराता हो उस वक्त भी जब वह आर्थिक या सामाजिक यथार्थ की बात कर रहा हो ।···प्रगति का अर्थ केवल भौतिक या तकनीकी प्रगति नहीं—उसकी दिशा केवल जेट एज की ओर नहीं बुद्ध के आत्मान्वेषण की ओर भी हो सकती है ।" (पूर्वग्रह, सितम्बर-दिसम्बर, 1977)

अज्ञेय की तरह कुंवरनारायण भी कला के क्षेत्र में कलाकार की वैयक्तिकता को महत्त्व देते हैं। वे यह मानते हैं कि समाज या राज्य के नियम इस सीमा तक मान्य नहीं हो सकते कि व्यक्ति की उचित स्वतन्त्रता में बाधक हो जायँ । "वे सामाजिक मूल्य कोई माने नहीं रखते जो समाज के नाम पर व्यक्ति के अधिकांश सर्जक और सांस्कृतिक स्रोतों को कुण्ठित कर दें ।" क्योंकि "कवि की वैयक्तिकता वह अनिवार्य माध्यम है जिसके द्वारा जीवन कला में परिणत होता है ।"[16] अपनी कविताओं में कुंवरनारायण ने अनेक बार व्यक्ति के देवत्व को, उसकी अस्मिता को, उसके अकेलेपन को तथा

उसके भीतर के प्रकाश को महत्त्व दिया है—

चेतना का न्यून अंकुर,
मनुजता की सहज मर्यादा,
उपजने दो खुली, सन्तुष्ट, रस जलवायु में,
क्योंकि विकसित व्यक्ति ही वह देवता है
इतर मानव जिसे केवल पूजता है;
आँक लेगा वह पनप कर
विश्व का विस्तार अपनी अस्मिता में···
सिर्फ उसकी बुद्धि को हर दासता से मुक्त रहने दो।[17]

··· ··· ···

बाहर के इस अन्धकार से
कहीं बड़ा भीतर प्रकाश है!
तेरे होने और न होने का
बाहर से अधिक पुष्ट
भीतर प्रमाण है।

··· ··· ···

हर व्यक्तित्व
अपनी सृष्टि के सारांश में
अणुवत् अकेला है।[18]

कुँवरनारायण की कविता में शुरू से ही प्रकृति के प्रति एक आकर्षण मिलता है। प्रेम और सौन्दर्य का जादू। 'चक्रव्यूह' और 'परिवेश : हम तुम' की बहुत सारी कविताओं को इसके उदाहरण में पढ़ा जा सकता है। जिसके भीतर एक वृहत्तर जिज्ञासा है, ऐसे मन का प्रकृति की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। कुँवरनारायण एक ऐसे ही कवि हैं। अपनी कविताओं में वह वाह्य प्रकृति के साथ एक सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करते हैं। उसके सौन्दर्य को ढूँढ़ने और पाने की कोशिश करते हैं। इससे शायद उनके जिज्ञासु मन को शान्ति मिलती हो। कुँवरनारायण की कविता में कहीं-कहीं आत्ममंथन इतना अधिक है कि वह दार्शनिक गम्भीरता ओढ़ लेती है। कहीं-कहीं उपदेशात्मक भी हो जाती है। कहीं-कहीं उसमें सरलीकरण भी मिलता है। यह उनकी कविता की कमजोरी है। 'आत्मजयी' में यह कमजोरी उसकी स्फीति में दिखायी पड़ती है। 'अपने सामने' में यह कमजोरी उन कविताओं में दिखायी पड़ती है जिनमें कवि अपने समय की चालू कविता की मुद्राएँ अपनाने लगता है। भाषा के स्तर पर बहुत अधिक नवीनता कुँवरनारायण नहीं दिखा पाते लेकिन कथन-भंगिमा और व्यंग्य उनमें है बहुत कुछ वैसा ही जैसा रघुवीर सहाय की कविताओं में। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि कुँवरनारायण धारा के कवि नहीं हैं। वे

धारा से अलग अपना एक विशिष्ट स्वाद रखते हैं जिसकी जड़ें बहुत गहरे कहीं हमारी परम्परा में हैं। इसीलिए उनकी कविता में आज की कविताओं की तरह विद्रोह या आक्रोश नहीं मिलेगा। न नंगी बेलौस भाषा मिलेगी। पाठक को कुँवरनारायण की कविता से इस प्रकार की आशा भी नहीं रखनी चाहिए। यह पाठक या आलोचक का दम्भ माना जायेगा यदि वह हर कवि से एक जैसी कविता की माँग करेगा।

सन्दर्भ

1. तीसरा सप्तक, पृ. 152
2. परिवेश : हम तुम, भूमिका
3. तीसरा सप्तक, वक्तव्य, पृ. 147
4. दे., 'चक्रव्यूह' शीर्षक कविता
5. आत्मजयी, भूमिका
6. तीसरा सप्तक, वक्तव्य, पृ. 149
7. आत्मजयी, पृ. 40, 42, 60, 52
8. अपने सामने, पृ. 26
9. वही, पृ. 33
10. वही, पृ. 93
11. वही, पृ. 21
12. वही. पृ. 37
13. वही, पृ. 32
14. वही, पृ. 88-89
15. तीसरा सप्तक, वक्तव्य, पृ. 147-148
16. परिवेश : हम तुम, भूमिका
17. चक्रव्यूह, पृ. 122
18. आत्मजयी, पृ. 84, 101

हत्या के विरुद्ध एक कविता

चारों ओर का असली संसार जब किसी कवि का काव्य-संसार बनता है तो वह विशिष्ट और एक हद तक निजी हो जाता है। इसीलिए हर कवि का काव्य-संसार उसका अपना और किसी-न-किसी रूप में विशिष्ट होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज की कविता में आज के जीवन की असलियत व्यक्त हुई है पर अलग-अलग कवियों में उसका रूप भी अलग हो गया है। कविता अनुभव की दुनिया है इसलिए इसका सम्बन्ध वाह्य वास्तविकता के साथ ही कवि के आन्तरिक जीवन से भी होता है। एक कवि का अनुभव, उसका चुनाव और उसकी दृष्टि उसे दूसरे कवि से अलग करती है। इस अलगाव और वैशिष्ट्य को हम कवि की भाषा और उसके शब्द-प्रयोग पर गौर करके रेखांकित कर सकते हैं।

रघुवीर सहाय (1929 ई.) की कविता में 'हत्या' और इसके समानार्थक शब्दों का प्रयोग वहुत हुआ है। इतनी बार हुआ है कि 'आत्महत्या के विरुद्ध' का कवि दरअसल हत्या के विरुद्ध है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967) और 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' (1975) नामक काव्य-संग्रहों में इतनी बार 'हत्या' शब्द का प्रयोग कवि-मन पर उसके आतंक को व्यक्त करता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो इसके किसी खास कारण तक पहुँच सकते हैं—सम्भव है यह कवि के बाल्य-मन पर पड़ा हुआ किसी भयानक घटना का आतंक हो जो उसके अन्तर्मन में बार-बार गूंज रहा हो। पर यहाँ इस तरह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमारा लक्ष्य नहीं है। हम यह मानकर चल रहे हैं कि ये कविताएँ कवि के चेतन मस्तिष्क द्वारा बुनी गयी सोद्देश्य कविताएँ हैं, कोई अचेतन क्रिया नहीं है। इसलिए इनका विश्लेषण आज के सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ में ही करना उपयुक्त होगा।

आज की परिस्थितियाँ बड़ी क्रूर हैं। मामूली आदमी और ईमानदार आदमी हर मोड़ पर मारा जा रहा है। क्या विडम्बना है कि वह जानता है कि उसकी हत्या होगी। सब जानते हैं कि उसकी हत्या होगी। पर सभी

मौन हैं, सभी खामोश। हत्यारा आता है, तौलकर चाकू मारता है और भीड़ को ठेलकर लौट जाता है। लोग आँखें गड़ाये देखते हैं और उन्हीं को बुलाने लगते हैं जिन्हें संशय था कि हत्या होगी। रघुवीर सहाय की 'रामदास' कविता आज की उस क्रूर अमानवीय स्थिति को नंगे चित्र की तरह सामने रख देती है जिसमें हत्या जैसी असाधारण और भयानक घटना भी एक अत्यन्त सहज कर्म हो गयी है। इस कविता की पंक्तियाँ मन्द गति से आगे बढ़ती हैं जैसे कोई कथा कही जा रही हो। कहीं कोई उत्तेजना, कोई आक्रोश या कोई रुदन नहीं है। कहीं कोई भय या दहशत पैदा करनेवाला शब्द नहीं है। सबकुछ कितना सहज है। सब कितने आश्वस्त हैं। दिन के समय बीच सड़क का वाकया है यह! इस कविता का बँधा हुआ छन्द और इसकी सधी हुई लय स्थिति की क्रूरता को और भी सहज बना देती है। हर पाँचवीं पंक्ति में बार-बार 'हत्या होगी' शब्द की आवृत्ति भीषण दुर्घटना को एक सामान्य दिनचर्या में बदल देती है।

हत्या चाहे रामदास की हो या खुशीराम की, पक्ष-विपक्ष स्पष्ट है—

मारो मारो शोर था मारो
एक ओर साहब था
सेठ था सिपाही था
एक ओर मैं था
मेरा पुत्र और भाई था
मेरे पास आकर खड़ा हुआ एक राही था।[1]

इस हत्या की कोई फरियाद नहीं है क्योंकि सचमुच जो मनुष्य मरा उसके भाषा न थी।[2] जब उसका प्रतिनिधि उसकी हत्या की करुण कथा कह रहा होता है, "हँसती है सभा, तोंद मटका, ठठाकर, अकेले अपराजित सदस्य की व्यथा पर।"[3]

रघुवीर सहाय की कविता में 'हत्या' शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'हत्या' केवल उसी की नहीं होती जो चाकू या छुरे से मारा जाता है, बल्कि उसकी भी होती है जो ट्रक से दबकर या बिना दवा के और बिना सिफारिश के मर जाता है। ऐसे मरनेवालों की एक भारी संख्या है जो रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा मर रहे हैं। जब आदमी की लालसा मरती है, उसकी स्वाधीनता छीनी जाती है, उसका सत्य कुचला जाता है, उसकी आवाज को प्रतिबन्धित किया जाता है तो वह आदमी ऊपर से जिन्दा रहते हुए भी भीतर से मर जाता है। बल्कि यों कहें कि वह मरता नहीं, उसकी हत्या हो जाती है। रघुवीर सहाय की कविता में इस तरह कदम-कदम पर रोज थोड़ा-थोड़ा मरते आदमी की पीड़ा महसूस की जा सकती है—

बीस बरस बीत गये
लालसा मनुष्य की तिल तिल कर मिट गयी

× ×

रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा मरते हुए लोगों का झुण्ड
तिल-तिल खिसकता है शहर की तरफ[4]

× ×

मैं क्या कर रहा था जब मैं मरा
मुझसे ज्यादा तो तुम जानते लगते हो
तुमने लिखा मैंने कहा था स्वाधीनता
शायद मैंने कहा था बचाओ[5]

ऊपर की काव्य-पंक्तियों में 'लालसा' और 'स्वाधीनता' जैसे शब्द विशेष रूप से गौर किये जाने चाहिए। आदमी की लालसा और उसकी स्वाधीनता एक भारी चट्टान के नीचे दबी छटपटा रही है। ज्यों ही वह अपने बचपन की आजादी छीनकर लाने का संकल्प करता है त्यों ही उसे कत्ल कर दिया जाता है।[6] रघुवीर सहाय ने अपनी कविता में इस आतंक की भयावहता का चित्र खींचा है। इस सन्दर्भ में 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' और 'उन्होंने कहा यह एक चाल है' शीर्षक कविताएँ विशेष रूप से पठनीय हैं। इन दोनों ही कविताओं में कवि ने आज के उस रहस्यमय खूँखार चेहरे का एहसास कराया है जिसके अदृश्य पंजे हर व्यक्ति और परिवार को एक करुण त्रास की स्थिति में कैद किये हुए हैं। वह अपनी अन्तरात्मा से कुछ नहीं कर सकता। जो कुछ कर रहा है एक दहशत-भरे सम्मोहन के वशीभूत होकर—

हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है
हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जायगी और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत खुश न मालूम हो
वरना शक होगा कि यह शख्स शर्म में शामिल नहीं
और मारे जाओगे

× ×

जितनी देर ऊँचा गोल गुम्बद गूँजता रहे, उतनी देर
तुम बोल सकते हो अपने से
गूँज थमते-थमते फिर हँसना
क्योंकि तुम चुप मिले तो प्रतिवाद के जुर्म में फँसे
अन्त में हँसे तो तुम पर सब हँसेंगे और तुम बच जाओगे[7]

इस आत्मछल की—अन्तरात्मा की—पीड़ा शायद लेखक के लिए एक बड़ी पीड़ा है। अपने को छलते हुए जीना आज के आदमी की एक विचित्र विवशता है। गोया वह जी नहीं रहा है, थोड़ा-थोड़ा मर रहा है रोज। उसके भीतर की इच्छा, आकांक्षा, लालसा, तिल-तिल कर मिट रही है—-

क्योंकि वे हँसे थे
तुमने मार डाले लोग

....

क्योंकि वे सुस्त पड़े थे
तुमने मार डाले लोग
....

क्योंकि उनमें जीने की आस नहीं रही थी
तुमने मार डाले लोग
....

क्योंकि वे बहुत सारे लोग थे
इसी तरह के बहुत सारे लोग

× ×

जो शरीर सूखे मरे पाये गये
उनमें जाने कितने कलाकारों के थे
उनकी कोई रचना छपी नहीं थी बल्कि
उनकी कोई रचना हुई नहीं थी क्योंकि
अभी उन्हें करनी थी
दो हजार वर्ष के अत्याचार के नीचे से उठकर
उन्हें एक दिन करनी थी रचना
इसके पहले ही वे मारे गये[8]

यह विशेष रूप से रेखांकित करने की चीज है कि मुक्तिबोध की कविता में जिस प्रकार एक अबोध शिशु आता है उसी प्रकार रघुवीर सहाय की कविता में एक लड़का, एक लड़की और एक स्त्री आती है। रघुवीर सहाय की कविताओं में जो 'लड़का' आता है वह दीखता तो है एक सामान्य लड़का ही पर कवि की दृष्टि में वह आनेवाले भविष्य का और नयी पीढ़ी का प्रतीक है। उसके मरने में कवि को भविष्य का मरना दिखायी देता है और उसकी उपेक्षा में एक पूरी पीढ़ी की उपेक्षा। जैसे एक चिनगारी असमय बुझ रही हो—

एक दिन
मेरे अपने जीवन में ही खत्म होनेवाला
है यह खेल
इस घर की दीवार पर मेरी तस्वीर होगी
बच्चे आयेंगे पर मेरी कल्पना में नहीं—अपने
समय से आयेंगे
और उनकी बोली में उनका तर्क नहीं होगा
जिसको आज सुनता हूँ

× ×

बड़ा हो रहा है लड़का

उन औजारों के बिना
जिनसे वह बनाता और तोड़ता हुआ बड़ा होता
वह सिर्फ बड़ा हो रहा है

× ×

अपने बच्चों का मुँह देखो इस साल
और अगले साल के लिए उनके पुराने कपड़े तहाकर रख लो
उनकी कहानी का अन्त आज ही कोई जान नहीं सकता है।[9]

यह भी ध्यान देने की बात है कि रघुवीर सहाय की कविताओं में जो 'स्त्री' और 'लड़की' आती है वह छायावादी कविताओं की नारी से भिन्न है। छायावादी काव्य की नारी अलौकिक रूपसम्पन्न थी। उसमें उल्लास था, प्रेम था। उसमें आशा थी, भावुकता थी। कहीं से कोई दुख नहीं था उसमें सिवा एक विरह-व्यथा के। साठोत्तर कविता के अनेक तथाकथित आन्दोलनों के रूप में जो कविता आयी उसमें भी 'स्त्री' आती है पर वह बड़ी बदनसीब है। वह विशेष रूप से यौन-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति के लिए लायी गयी है। यह बड़ा आश्चर्यजनक और दुखद सत्य है कि हिन्दी कवियों ने पुरुष के जीवन का आर्थिक संघर्ष तो देखा पर उन्हें स्त्री के जीवन का यह पक्ष नहीं दीखा। वे उसके प्रति केवल अपनी अतृप्त वासना को बाहर निकालते रहे। इस सन्दर्भ में रघुवीर सहाय की कविता में जो स्त्री आती है उसे देखकर राहत मिलती है। वह सुन्दर नहीं है, वह विरह में मछली की तरह तड़प नहीं रही है, वह सम्भोग की एक गुड़िया नहीं है—एक मरती-खपती सच्चाई है। वह दुबली और थकी हुई है।[10] उसके बड़े-बड़े दाँत हैं।[11] वह बच्चा गोद में लिये चलती बस में चढ़ रही है।[12] वह साथ में दो बच्चे लिये प्रधानमन्त्री का पता पूछ रही है।[13] उसके बाल अब घने काले नहीं हैं। वह उदास नहीं, डरी हुई है। वह जवानी में बहुत कष्ट उठा चुकी है। अब वह थोड़े-थोड़े लगातार स्नेह के बदले एक पुरुष के आगे झुककर चलने को तैयार हो चुकी है।[14] वह अभी तक खड़ी है—

ग्रीष्म फिर आ गया
फिर हरे पत्तों के बीच
खड़ी है वह
ओंठ नम
और भरा-भरा-सा चेहरा लिये
बदली की रोशनी-सी नीचे देखती
निरखता रह
उसे कवि
न कह
न हँस

न रो
कि वह
अपनी व्यथा इस वर्ष भी नहीं जानती ।[15]

कहना न होगा कि नारी के प्रति यह दृष्टि आज की कविता में दुर्लभ है। रघुवीर सहाय की कविता में जो 'लड़की' आती है वह भी किसी रोमांस के लिए नहीं। वह एक कमजोर लड़की है। भारी बस्ता लिये हुए। काले पाँवोंवाली ।[16] जिसकी बाढ़ मारी गयी है और जो डर के मारे अपना दुख नहीं बता पाती ।[17] रघुवीर सहाय की कविता का यह बोध स्पष्टतः एक अलग और अपना खास स्वाद लिये हुए है। उसका अपना अलग सौन्दर्य है, अपनी अलग जमीन है। रघुवीर सहाय ने सही लिखा है—

कितना अच्छा था छायावादी
एक दुख लेकर वह एक गान देता था
कितना कुशल था प्रगतिवादी
हर दुख का कारण वह पहचान लेता था
कितना महान था गीतकार
जो दुख के मारे अपनी जान लेता था
कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता ।[18]

ऊपर उद्धृत अन्तिम दो पंक्तियों में दो शब्दों पर गौर करना जरूरी है— 'मरता मतदाता' और 'अकेला'। रघुवीर सहाय की कविता में यह मरता मतदाता बार-बार आता है—अपने विविध रूपों में और उसके साथ ही वह अकेलापन भी जो कवि की ही तरह पाठक को भी कहीं अकेला छोड़ देता है।

मामूली अभावग्रस्त जिन्दगी के चित्र रघुवीर सहाय की कविताओं में बहुत हैं—भीख का अन्न खाती हुई दुधमुही बच्ची, पैदल सड़क पार करता हुआ काला नंगा बच्चा, सहमी डरी लड़की, रिक्शा खींचता मजूर, अपने दर्द के साथ अकेली औरत, खाँसता हुआ फलवाला, सड़क पार करता पतला दुबला बोदा आदमी, लँगड़ा बूढ़ा, लाटी टेक भीख माँगता बुड्ढा आदि। इस उपेक्षित जिन्दगी के अनेक चित्र उनकी कविताओं में मिलेंगे—

औरतें बाँधे हुए उरोज
पोटली के अन्दर है भूख
आसमानी चट्टानी बोझ
ढो रही है पत्थर की पीठ
लाल मिट्टी लकड़ी ललछौर
दाँत मटमैले इकटक दीठ
कटोरे के पेंदे में भात

गोद में लेकर बैठा बाप
फर्श पर रखकर अपना पुत्र
खा रहा है उसको चुपचाप[17]

रघुवीर सहाय का यह काव्य-संसार मामूली, अभावग्रस्त और उपेक्षित जिन्दगी का संसार है। आज के बहुत से नये कवि सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति की बात तो बहुत करते हैं, मामूली आदमी का ढोल भी बहुत पीटते हैं पर उनकी कविताओं पर गौर किया जाय तो असली रहस्य खुल जाता है। कुछ कवियों की शब्दावली में यौन-कुण्ठाओं के चित्र बार-बार आते हैं। कुछ में मध्यवर्गीय हीनताग्रन्थियाँ मिलती हैं। कुछ में प्रच्छन्न रूप से उनका बड़प्पन बोध और मामूली आदमी का विरोध झाँकता रहता है। इस सन्दर्भ में नये कवियों की शब्दावली का अध्ययन निश्चय ही एक दिलचस्प काम होगा। उदाहरण के लिए रघुवीर सहाय के समकालीन कवि श्रीकान्त वर्मा का काव्य-संसार देखें तो वह एक भिन्न संसार होगा। उसमें एक पूरा भूगोल है। इतिहास के लोग हैं। वियतनाम, चेकोस्लोवाकिया, क्रेमलिन, अमेरिका, चीन, हिरोशिमा, पेरिस, यूनान, ढाका, बीयफ्रा, समरकन्द आदि। लेनिन, स्टालिन, बेरिया, लिंकन, गोएबलस, कन्फ्यूसस, क्लाडइथरली, गोडसे, अशोक आदि। इन नामों के साथ आप नेहरू, पाटिल, मोरारजी, विनोबा, जैनेन्द्र, पण्डित राजाराम, मुसद्दीलाल, दिग्विजयनारायण सिंह, रामगुलाम, दीनानाथ, मैकू, रामकुमार, खुशीराम, रामदास, बेचू, निरहू, ढोड़े, मंगरे, गोबरे, हरचरना आदि नामों को रखकर देखें तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा।

रघुवीर सहाय का काव्य-संसार पूरी तरह भारतीय है। वह भारतीय आम आदमी का संसार है। उस आदमी का संसार है जो आदमी से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द झेल रहा है। इस दर्द को कवि ने बड़ी आत्मीयता से महसूस किया है—

निष्कासित होते हुए मैंने उसे देखा था
जयपुर-अधिवेशन जब समेटा जा रहा था
जो मजूर लगे हुए थे कुर्सी ढोने में
उन्होंने देखा एक कोने में बैठा है
अजय अपमानित
वह उसे छोड़ गये
कुर्सी को सन्नाटा छा गया

× × ×

एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उसके बहनें थीं
क्या उसने रक्खे थे टीन के बक्से में अपने अजूबे

वह कौन-कौन से पकवान खाता था
एक शब्द कहीं नहीं एक वह शब्द जो वह खोज
रहा था जब वह मारा गया।[20]

× × ×

खेत में सजी हुई क्यारियाँ थीं
उनमें पानी भरा था
मैंने हाथ से उन्हें पटीला
अँखुए झाँकते दिखायी दिये
सपना था यह
धीरे से बदल गया[21]

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में केवल शाब्दिक नहीं बल्कि एक भीतरी तकलीफ है। यह तकलीफ पाठक को थोड़ी देर के लिए उदास कर देती है। उदास और अकेला। पीड़ा वही है जो व्यक्ति को अकेला कर दे। अपने दर्द में हर आदमी अकेला होता है। हर ईमानदार आदमी अकेला होता है और रचनाकार भी अपने अनुभव क्षणों में अकेला ही होता है। बहुत पहले 'सीढ़ियों पर धूप में' की एक कविता में रघुवीर सहाय ने लिखा है—

पर मेरा एक और जीवन है
जिसमें मैं अकेला हूँ।

'हँसो हँसो जल्दी हँसो' काव्य-संग्रह अपने उसी अकेलेपन को समर्पित करते हुए वे लिखते हैं, "अपने उस अकेलेपन को जो भय और साहस के बीच कभी-कभी वहाँ मिला करता है जहाँ कोई जीवित मित्र आ नहीं पाता। सिर्फ उनकी याद आ सकती है जो ठीक उसी जगह मारे गये थे।"

यह अकेलापन ही कवि को रचना का अनुशासन प्रदान करता है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' संग्रह के अपने वक्तव्य में रघुवीर सहाय ने रचनाकार के इस अनुशासन को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—"सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ—किसी में ढाल सहित किसी में निष्कवच होकर—मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर हूँ—अपने भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।...मैं बदमाशों, गधों, आधे पागलों और मक्कारों के लिए एक जिम्मेदारी महसूस करता हूँ पर जो कुछ मैं रचता हूँ सिर्फ अपनी जिम्मेदारी पर रचता हूँ...या फिर नहीं रचता।" 'आत्महत्या के विरुद्ध' में ही 'नेता क्षमा करें' तथा 'अपने आप और बेकार' शीर्षक कविताओं में कवि ने रचनाकार के रूप में अपनी सीमाओं का इजहार किया है—

लोगो, मेरे देश के लोगो और उनके नेताओ
मैं सिर्फ एक कवि हूँ

मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता न उसके साथ खाने के लिए ग़म
न मैं मिटा सकता हूँ ईश्वर के विषय में तुम्हारा सम्भ्रम

× ×

यानी कि आप ही देखें कि जो कवि नहीं है
अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ
और आप कहते हैं कि कविता की है
क्या मुझे दूसरों की तोड़ने की फ़ुरसत है ?

× ×

देश की व्यवस्था का विराट वैभव
व्याप्त है चारों ओर
एक कोने में दुबक ही तो सकता हूँ
सब लोग जो कुछ रचाते हैं उसमें
केवल अपना मत नहीं दे ही तो सकता हूँ

अपनी सीमाओं का एहसास ही रचनाकार में रचनादायित्व पैदा करता है और साथ ही एक खास किस्म की बेचैनी भी जो अपनी सीमाओं से वाकिफ़ होने पर पैदा होती है। रघुवीर सहाय अपनी कविता को 'अपने हाथ की छटपटाहट' कहकर इसी बेचैनी को व्यक्त करते हैं। उनकी कविता के बीच-बीच में यह बेचैनी व्यक्त हुई है—

मरते मनुष्य के बारे में क्या करूँ क्या करूँ मरते मनुष्य का

× ×

इस महान देश में क्या करें, कहाँ जायें
घबराते लड़के गदराती औरत लेकर

× ×

क्या तोड़ूँ क्या तोड़ूँ जो मुझे अपनापा मिले समुदाय में

× ×

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक
कायर टूटेगा टूट

× ×

एक बार जानबूझकर चीखना होगा
जिन्दा रहने के लिए
दर्शक दीर्घा में से[22]

रघुवीर सहाय की कविता सामाजिक संसार की कविता है। भीड़, संसद, चुनाव, मतदान, जुलूस, नारा, सड़क, बाजार आदि की बात करते हुए वे अपनी कविता को एक सामाजिक सन्दर्भ में रखते हैं—आज के मनुष्य के सही सन्दर्भ में। इस सन्दर्भ में कविता और राजनीति के सम्बन्धों का

प्रश्न भी उठता है जिस पर काफी बहसें पिछले दशक में हुई हैं। वस्तुतः आज के युग में राजनीति का साक्षात्कार करना कवि-कर्म की एक आवश्यकता है। आज राजनीति ने आदमी को इस कदर जकड़ रखा है कि उससे इनकार करने का अर्थ है सचाई को इनकार करना। रघुवीर सहाय की कविता राजनीति का यह सीधा साक्षात्कार प्रस्तुत करती है। उनकी कविताओं में सम्पूर्ण शासनतन्त्र नंगा हो गया है। उनकी कविता को पढ़ना एक भीड़-भरे बाजार में चलना है जहाँ—

लोग सिर्फ लोग हैं, तमाम लोग, मार तमाम लोग
लोग ही लोग हैं चारों तरफ, लोग लोग

कवि अपने को इन लोगों के बीच में ही रखता है—

क्योंकि आज भाषा ही मेरी एक मुश्किल नहीं रही
एक मेरी मुश्किल है जनता

जनता और भीड़ और आज की दुनिया को देखना हो तो 'आत्महत्या के विरुद्ध' की गयी कविताओं को एक साथ देखना होगा जिसमें महासंघ का मोटा अध्यक्ष, मन्थर भटकता मन्त्री, पिटे हुए नेता, पिटे अनुचर, मुस्टण्डा विचारक, हाँफते डकारते हँकाते भीमकाय भाषाविद्, घण्टा घनघनाते पुजारी, खिसियाते कुलपति, घिघियाते उपकुलपति, पिटा हुआ दलपति, मक्कार मन्त्री, ठस कार्यकर्त्ता, डकारता कवि, फर्श धोता कथाकार, पुलकित उपराष्ट्रकवि आदि सभी से साक्षात्कार हो सकेगा। जनता, विधायक, सचिव, पुलिस, डाक्टर, सम्पादक, राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, न्यायाधीश, राज्यपाल, मुख्यमन्त्री, चित्रगुप्त सभा, जिलाधीश, पत्रकार, गृहमन्त्री, संसद सभी कुछ है—

नाम कहाँ तक याद रखूँ
लोगों को उनकी तोंद से जानता हूँ

'आत्महत्या के विरुद्ध' में चीजें नंगी हो गयी हैं और व्यक्ति, समाज, संस्था, राजनीति तथा जनतन्त्र की पोल खुल गयी है—

बीस बड़े अखबारों के प्रतिनिधि पूछें पचीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहे महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार
आँख मारकर पचीस बार वह हँसे वह, पचीस बार
हँसे बीस अखबार

× ×

राष्ट्र को महासंघ का यह सन्देश है
जब मिलो तिवारी से—हँसो— क्योंकि तुम भी तिवारी हो
जब मिलो शर्मा से—हँसो— क्योंकि वह भी तिवारी है

× ×

सेना का नाम सुन देश प्रेम के मारे
मेजें बजाते हैं
सभासद भद भद भद कोई नहीं हो सकती
राष्ट्र की
संसद एक मन्दिर है जहाँ किसी को द्रोही कहा नहीं
जा सकता

× ×

पाँच दल आपस में समझौता किये हुए
बड़े-बड़े लटके हुए स्तन हिलाते हुए
जाँघ ठोक एक बहुत दूर देश की विदेश नीति पर
हौंकते डौंकते मुँह नोच लेते हैं
अपने मतदाता का

× ×

पूछेगा संसद में भोलाभोला मन्त्री
मामला बताओ हम कार्रवाई करेंगे
हाय-हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ हें-हें करता हुआ
दल का दल
पापा छिपा रखने के लिए एकजुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खायेगा देश को

× ×

दफ्तर में दल के गया वे जमे बैठे थे
तने हुए जितना वे तन सकते थे मोटे शरीर
उनके तले शक्ति थी दबी हुई जनता की
उस शक्ति की पीड़ा उनके चेहरे पर थी
जब वे एक लम्बी पाद पादे राहत मिली

× ×

यह समाज मर रहा है इसका मरना पहचानो मन्त्री
देश ही सब कुछ है धरती का क्षेत्रफल सब कुछ है
सिकुड़कर सिंहासन भर रह जाये तो भी वह सब कुछ है
राजा ने अपने मन में कहा जो राजा प्रजा की दुर्बलता
नहीं पहचानता
वह अपने देश को नहीं बचा सकता प्रजा के हाथों से

उपर्युक्त पंक्तियों में भारत जैसे लोकतन्त्र का क्या नहीं है ? समाजवादी ढोंग, भाई-भतीजावाद, सुविधा की राजनीति, संसदीय प्रणाली का मखौल, बुद्धिजीवियों का निरर्थक विद्रोह, हँसोड़ों तथा मसखरों की चापलूसी और हें-हें करती हुई भीड़—सबकुछ जैसे एक निस्संग अन्दाज में और एक

ही साँस में कह दिया गया हो। यह एक नयी काव्य-संवेदना का विस्तार है। जाहिर है कि जो पाठक छायावादी कविता के आज भी प्रशंसक हैं वे इसे कविता मानेंगे ही नहीं और कहेंगे इसमें अनुभूति ही नहीं है क्योंकि अनुभूति उनके लिए केवल प्रेम की अनुभूति होती है जो सरस और भावुक हो। रघुवीर सहाय की कविता एक सर्वथा भिन्न और गैर-रोमाण्टिक जमीन की कविता है। यह कविता किसी एक क्षण या किसी एक घटना की अनुभूति नहीं है। यह उन बीस वर्षों के बिखरे अनुभवों की कविता है जिनमें एक 'गाता बजाता हारा हुआ देश' नंगा हो गया है। यह कविता बिखराव की कविता है जो आन्तरिक रूप से यद्यपि कहीं बहुत गहरे जुड़ी हुई है पर अपने बिखराव के द्वारा ही एक समूचे विशृंखल परिवेश को अधिक सार्थक अभिव्यक्ति देती है।

बहुत पहले 'दूसरा सप्तक' (1951 ई.) के अपने 'वक्तव्य' में रघुवीर सहाय ने लिखा था, "शमशेर बहादुर का यह कहना मुझे बराबर याद रहेगा कि जिन्दगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है : आक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं।...मैंने अपनी कविता के इस चरण तक पहुँचते-पहुँचते शैली में ताल और गति के कुछ प्रयोग कर पाये हैं।...भाषा को भी साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है...विचारवस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है, और यह तभी सम्भव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों।" बहुत पहले 'सीढ़ियों पर धूप में' संग्रह की भूमिका में अज्ञेय ने रघुवीर सहाय को 'एंग्री यंग मैन' की जगह 'एंक्शस यंग मैन' कहना उपयुक्त समझा था। कहना न होगा कि रघुवीर सहाय अपनी कविताओं द्वारा बराबर उस वयस्कता का परिचय देते हैं। उनकी कविताओं में सोच-विचार का एक रूप बराबर दिखायी पड़ता है।

यदि रचनाकार को रचना में ही अपनी लड़ाई लड़नी है तो उसके पास भाषा के अतिरिक्त और कोई हथियार नहीं है—यह उसके बूते की बात है कि वह भाषा का इस्तेमाल गोली की तरह करता है या पके कटहल की तरह। कहना न होगा कि नये कवियों में भाषा नामक हथियार का जितना सार्थक उपयोग रघुवीर सहाय ने किया है उतना बहुत कम कवियों ने। उन्हें अच्छी तरह मालूम है—"कि भाषा कोरे वादों से, वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी।" इसीलिए वे कहते हैं कि, "कि भाषा को मन्दिर में बन्द मत करो। उसे बोलो।" रघुवीर सहाय ने भाषा को जिन्दगी के बहुत निकट लाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा गद्य की भाषा या बातचीत की भाषा या अखबार की भाषा नहीं है बल्कि जिन्दगी और अनुभव की भाषा है। उसे अनुभव से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यह भाषा एक ऐसे कवि की भाषा है जो चौराहे पर खड़ा है और उसके चारों ओर भीड़ है। यह

कवि के सामर्थ्य और उसकी शक्ति का सूचक है कि वह एक अभिजात संस्कारी भाषातन्त्र को तोड़कर एक ऐसी भाषा को काव्यभाषा बना सका है जिसमें हम साँस लेते और सोचते हैं। बहुत पहले 'सीढ़ियों पर धूप में' (1960 ई.) की 'भूमिका' में अज्ञेय ने रघुवीर सहाय की भाषा की विशिष्टता को लक्ष्य करते हुए लिखा था, "अपने छायावादी समवयस्कों के बीच बच्चन की भाषा जैसे एक अलग आस्वाद रखती थी और शिखरों की ओर न ताककर शहर के चौक की ओर उन्मुख थी, उसी प्रकार अपने विभिन्न मतवादी समवयस्कों के बीच रघुवीर सहाय भी चट्टानों पर चढ़ नाटकीय मुद्रा में बैठने का मोह छोड़ साधारण घरों की सीढ़ियों पर धूप में बैठकर प्रसन्न हैं। यह स्वस्थ भाव उनकी कविता को एक स्निग्ध मर्मस्पर्शिता दे देता है—जाड़ों के घाम की तरह उसमें तात्क्षणिक गरमाई भी है और एक उदार खुलापन भी जिसमें और जिसको हम 'दे दिये जाते हैं।'" कहा जा सकता है कि रघुवीर सहाय की काव्य-संवेदना और भाषा दोनों ही अब सीढ़ियों पर धूप में नहीं है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' का कवि सीढ़ियों पर धूप में बैठकर प्रसन्न नहीं है बल्कि चौराहे पर भीड़ में धँसकर संघर्षरत है और उसकी भाषा उन एक्सरेज के समान हो गयी है जिनसे चीजों की दरकी हुई हड्डियों के अक्स साफ-साफ दीखने लगे हैं। कमलेश के शब्दों में, " 'सीढ़ियों पर धूप में' का संसार, संसार में ज्यादातर सुख लेनेवाले मन की सृष्टि थी। प्रकृति के सुखात्मक पहलुओं की खोज में कहीं विफलताजन्य कुण्ठा, वृत्तियों के दमन, फलस्वरूप दवे चिपके मन के दर्शन नहीं होते थे। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में दुनिया में पाये गये इन सुखातमक पहलुओं का निरसन नहीं है। इन कविताओं में दुनिया के दूसरे अनेक बहुरूपी पहलुओं से संघर्ष बढ़ता लगता है और इन नये सम्पर्कों की आँच से निकली भाषा पर कुछ नये संस्कारों की छाप पड़ी है। यह विकासक्रम निजत्वों के संसार से घनिष्टता स्थापित करने के बाद समूहों के संसार से भी अपनापा बढ़ने के क्रम को जाहिर करता है।" ('कल्पना', जून 1970, पृ. 43)। कमलेश का यह कथन रघुवीर सहाय के 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' संग्रह की कविताओं के बारे में भी उतना ही सच है।

रघुवीर सहाय की कविता को राजनीतिक कविता कहा गया है। पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि उनकी कविताओं में किसी खास राजनीतिक मतवाद की गन्ध नहीं मिलती। वे न तो किसी दल का समर्थन करती हैं और न किसी वाद का प्रचार। वे केवल आज के भ्रष्ट राजनीतिक तन्त्र में जीते-मरते आदमी की पीड़ा का चित्रण करती हैं। यही रघुवीर सहाय की कविता की असली जमीन है। दरअसल राजनीतिक कविता लिखना बड़ा कठिन होता है—सीधा राजनीतिक या क्रान्तिकारी होने से भी कठिन।[23] रघुवीर सहाय कविता के लिए राजनीति को नहीं बल्कि

रचना की शर्त को जरूरी मानते हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' के अपने 'वक्तव्य' में वे कहते हैं, "राजनीति की ओर मेरा यही रवैया है—संकटकालीन रवैया कह लीजिए—कि 'वह बहुत जरूरी है' या 'वह फिजूल है' दोनों फतवे संकट से भागने के बहाने हैं—वह बहुत जरूरी है, पर मैं भी अपने लिए बहुत जरूरी हूँ—अपनी उस कला-परम्परा के लिए जिसमें मैं अपनी एक मूर्ति बनाता और एक ढहाता हूँ और आप कहते हैं कि कविता की है।"

सन्दर्भ

1. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 18
2. हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 3
3. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 17
4. वही, पृ. 85, 46
5. हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 7
6. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 18
7. हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 25
8. वही, पृ. 1, 66
9. वही, पृ. 2, 11, 69
10. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 40
11. वही, पृ. 76
12. वही, पृ. 39
13. वही, पृ. 66
14. हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 13
15. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 44
16. हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 62
17. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 51
18. वही, पृ. 69
19. वही, पृ. 14
20. वही, पृ. 22, 25
21. हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 65
22. आत्महत्या के विरुद्ध, पृ. 22, 46, 57, 20, 77
23. Poetry can inhabit the world, the actual world, even : the political world. To practice it there is not easy : Indeed it is more difficult than to throw one's self in to politics, in to revolution, directly as a man, as a revolutionery.

    —*Maclush* : *Poetry and Experience*, p. 131

कविता की निजी पहचान का आग्रह

अपनी पहचान खोकर
दूसरों की पहचान का साधन बनने से अच्छा है
कि रोशनियाँ न रहें,
जिससे कि हम
एक-दूसरे के चेहरे न देख सकें।[1]

यह काव्यांश एक कथन मात्र है जिसमें सर्वेश्वर (1927 ई.) अपनी पहचान बनाये रखने पर जोर देते हैं। सर्वेश्वर अपनी कविता में यह पहचान कितनी बना सके हैं, इस बारे में असहमति भी हो सकती है पर इसमें सन्देह नहीं कि सर्वेश्वर की कविता की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उभरकर सामने आती हैं। ये विशेषताएँ कमोबेश सर्वेश्वर के समकालीनों की कविताओं में भी हैं पर सर्वेश्वर की कविता में ये प्रमुख हैं और इन्हें रेखांकित किया जाना चाहिए।

सर्वेश्वर की कविता में एक प्रकार की निजता और आत्मीयता शुरू से दिखायी पड़ती है। 'काठ की घण्टियाँ' (1959 ई.) संग्रह की एक कविता ('एक नयी प्यास') में कवि ने यह इच्छा व्यक्त की है कि उसके मकान के कहीं किसी कोने में एक छोटा-सा कमरा ऐसा भी होना चाहिए जिसमें वह अपने अनुसार रह सके, जिसका उपयोग अपनी इच्छानुसार कर सके। 'गर्म हवाएँ' संग्रह की 'यह खिड़की' शीर्षक कविता में भी कवि का यही आग्रह मुखर होता है जब वह बार-बार दुहराता है कि, "अब मैं यह खिड़की नहीं खोलूंगा।" कवि की यह इच्छा उसकी परवर्ती कविताओं में बराबर बनी हुई है। 'गर्म हवाएँ' (1969) संग्रह की 'इस जंगल में' शीर्षक कविता में वह लिखता है—

सूरज मेरे सिर पर
पैर रखता चला जाता है
चिड़ियाँ शोर करतीं

मुझमें से गुजर जाती हैं।
मेरी न **अपनी** कोई गति है, न भाषा।
हवा झकझोरती है, तोड़ती है।
टूटने से ही अब **मेरी** होती है **पहचान**
वैसे फल-फूल-गन्ध
मौसम के साथ बदलना
सब दूसरों के समान।

इन पंक्तियों में आत्मरूप की पहचान और उसकी रक्षा का आग्रह स्पष्ट है। 'गर्म हवाएँ' संग्रह की ही एक दूसरी कविता ('दूसरों के कपड़े पहनकर') में कवि ने उन बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य किया है जो दूसरों के विचार ओढ़कर आधुनिक और क्रान्तिकारी बनने का ढोंग करते हैं। इस कविता में आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवियों का खोखलापन तो है ही, प्रकारान्तर से आत्मरूप की पहचान का भी आग्रह है। इसी संग्रह की 'छीनने आये हैं वे' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

और अब छीनने आये हैं वे
हमसे हमारी भाषा
यानी हमसे **हमारा रूप**
जिसे हमारी भाषा ने गढ़ा है
और जो इस जंगल में
इतना विकृत हो चुका है
कि जल्दी **पहचान** में नहीं आता।

ऊपर उद्धृत तीनों काव्यांशों में सबसे पहले 'पहचान' शब्द पर गौर करना जरूरी है। दूसरे और तीसरे काव्यांश में 'गति', 'भाषा' तथा 'रूप' शब्द पर भी। ये सभी शब्द गौर से विश्लेषण करने पर एक ही अर्थ देते हैं। इस तरह के अनेक काव्यांश सर्वेश्वर की कविता से उद्धृत किये जा सकते हैं। 'गर्म हवाएँ' संग्रह में 'प्रार्थना' शीर्षक से छोटी-छोटी चार कविताएँ हैं। इन चारों कविताओं में कवि ईश्वर से दया की याचना नहीं करता। उससे शक्ति नहीं माँगता। उसके चरणों पर गिरकर सुख नहीं लेना चाहता। वह अपने साहस को जिन्दा रखना चाहता है और अपनी असफलताओं, सीमाओं के साथ मरकर, बिखरकर अपने भीतर शक्ति अर्जित करना चाहता है। यह आत्मविश्वास का स्वर है—जो भीतर की शक्ति है उसे पहचानने का प्रयास है—

हर क्षण यह जान सकूँ क्या मुझको खोना है
कितना सुख पाना है, कितना दुख रोना है
अपने सुख दुख की प्रभु
इतनी **पहचान** रहे।[2]

'पथराव' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

मैं जानता हूँ पथराव से कुछ नहीं होगा
न कविता से ही।
कुछ हो या न हो।
हमें **अपना** होना प्रमाणित करना है।[3]

'अपना होना' अर्थात् अपनी सार्थकता। रचना या कविता के मूल में कहीं-न-कहीं अपनी सार्थकता को खोजने, पाने और उसे प्रमाणित करने की कोशिश या बेचैनी होती ही है। यही रचना या कविता का आत्मपरक पक्ष है। सर्वेश्वर की कविता में जो कई अंश ऊपर उद्धृत किये गये हैं उनमें 'अपनी', 'अपना', 'अपने', 'मेरी', 'मेरा', 'मेरे', 'हमारी', 'हमारा', 'हमारे' जैसे शब्दों पर भी गौर करना जरूरी है। ये शब्द कहीं-न-कहीं उसी 'पहचान' शब्द से जुड़ते हैं जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सर्वेश्वर की कविता में 'मैं' का अर्थ देनेवाले और इससे मिलते-जुलते शब्दों का अधिक प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उनकी कविता में निजता, आत्मीयता और आत्मपरकता विशेष है।

'काठ की घण्टियाँ' की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं, "अपनी सामाजिक दृष्टि और अपनी रचनाओं में स्पन्दनशील गहरी सामाजिक चेतना के बावजूद सर्वेश्वर को सर्वप्रथम अनुभव से प्रयोजन है; सन्दर्भ से केवल आनुषंगिक रूप से।" अज्ञेय का यह कथन कम-से-कम 'काठ की घण्टियाँ' संग्रह की कविताओं के लिए शत-प्रतिशत सही है। इस संग्रह की कविताओं में कवि की आन्तरिक पीड़ा, उसका अकेलापन, अजनबीपन, उसका भय, उसकी विवशता और मजबूरी चित्रित मिलेगी। इस संग्रह की बहुत-सी कविताओं में एक ओर बाहर के आतंक का चित्रण है और दूसरी ओर कवि के दुखी होने और उसके द्वारा किये जा रहे संघर्षों का बयान। संग्रह की आरम्भिक कविताओं में 'रात', 'साँझ', 'अँधेरा,' 'दर्द', 'परछाईं' जैसे शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है। इन कविताओं से नमूने के तौर पर कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं—

बोलना चाहता है, अपनी ही पगध्वनि से बोल
दर्द की गाँठ तू अपने ही छालों पर खोल

× ×

ऐसी खामोशी
पथराई हुई खामोशी
आज चारों तरफ से छायी है इस घाटी में
अपने कदमों की आहट से भी डर लगता है

× ×

यह सिमटती साँझ, यह वीरान जंगल का सिरा
यह बिखरती रात, यह चारों तरफ सहमी धरा

× ×

अजनबी है देश यह, जी यहाँ घबराता है
कोई आता है यहाँ पर न कोई जाता है

× ×

कितना चौड़ा पाट नदी का, कितनी भारी शाम
कितने खोये-खोये से हम कितना तट निष्काम[4]

ऊपर की पंक्तियों में जो पीड़ा, विवशता, अवसाद और अकेलापन है वह कवि की परवर्ती कविताओं में भी मिलता है—

मैं जानता हूँ मेरे दोस्त
कि हमारे-तुम्हारे
और सबके आँसू
इस धरती पर गिरेंगे
और सूखते चले जायेंगे

× ×

एक द्वार की तरह
मैं रेगिस्तान में खड़ा हूँ
एक टूटी दीवार का अकेलापन भी
अब कहाँ है जो कुछ रोक सके।
गर्म हवाएँ सनसनाती हुई
मुझमें से गुजर जाती हैं।

× ×

कोई नहीं आयेगा।
जाती लहरों के साथ-साथ
मेरी आत्मा का संगीत घिसटता जायेगा।

× ×

फिर वसन्त ने मुझे डसा।
फूलों भरी डाल
जिसको था पकड़ खड़ा इतराता
झूल गिरी मुझ पर अजगर-सी
ठण्ढी एक लपेट ने
मुझे आज फिर कसा।

× ×

रेत हुई आकांक्षा
रेत हो गया मैं भी

राह, राह नहीं रही
मिलना भी नहीं रहा मिलना।[8]

सर्वेश्वर की कविता में यह जो पीड़ा, अवसाद और अकेलापन है वह निजी भी है और आज का दशहतभरा परिवेश भी उसका कारण है। इसीलिए सर्वेश्वर की कविता एक ओर निजी सुख-दुख को व्यक्त करती है तो दूसरी ओर आज के बाह्य यथार्थ का खुलकर चित्रण भी प्रस्तुत करती है। उनकी कविता को इन दोनों ही स्तरों पर पहचानना उपयुक्त होगा।

ऊपर जिस निजी पहचान की बात की गयी है वह पहचान सर्वेश्वर की कविता अपने ग्राम्य जीवन के चित्रणों में सबसे अधिक बना पाती है। ग्राम्य जीवन के चित्रों के लिए उनकी कविता अपने समकालीनों में विशेष रूप से उल्लेखनीय समझी जायेगी। 'काठ की घण्टियाँ' से लेकर 'कुआनो नदी' तक सर्वेश्वर की कविता में ग्राम्य जीवन के प्रति लगाव बराबर बना हुआ है। लोकजीवन के एक-से-एक चित्र उनकी कविता में मिलेंगे। इस सन्दर्भ में 'सुहागिन का गीत', 'गांव की शाम का सफर', 'नये साल पर', 'कुआनो नदी', 'भुजैनियाँ का पोखरा', 'बाँसगाँव' आदि कविताएँ विशेष रूप से पढ़ी जानी चाहिए। सर्वेश्वर की कविता में ग्रामीण बोली के शब्द बहुत मिलेंगे। ग्रामीण मुहावरे और कहावतों का भी इस्तेमाल दिखायी पड़ेगा। कुछ कविताएँ तो पूरी-की-पूरी ग्रामीण गीतों की तर्ज पर लिखी गयी हैं। 'सावन का गीत', 'चरवाहों का युगल गान', 'चुपाई मारौ दुलहिन', 'झाड़े रौ महँगुआ', 'गरीबा का गीत' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। यहाँ यह कह देना प्रासंगिक होगा कि सर्वेश्वर की ये कविताएँ जो ग्राम-गीतों की तर्ज पर लिखी गयी हैं, अत्यन्त समर्थ कविताएँ हैं। इन कविताओं में केवल ग्रामीण शब्दों-मुहावरों का इस्तेमाल मात्र नहीं किया गया है बल्कि गाँव की मिट्टी, पानी, धूप, हवा को पाठक तक पहुँचाने की कोशिश की गयी है। सर्वेश्वर के अन्तर्मन में गाँव कहीं इतने गहरे बैठा है कि वह उनकी कविता के बीच-बीच में अचानक प्रकट हो जाया करता है। 'शरणार्थी' शीर्षक कविता में कवि जब याद करने लगता है तो याद के नाम पर उसे अपना ग्राम्य परिवेश ही याद आता है—'एक खेत / एक अमराई/एक नदी/एक नाव/कुछ मछलियाँ/कुछ बच्चे/कुछ बुजुर्ग/कुछ धर्मग्रन्थ' इसी प्रकार सर्वेश्वर की अन्य कविताओं में भी उनके भीतर बैठा गाँव झाँकने लगता है—

आकाश का साफा बाँधकर
सूरज की चिलम खींचता
बैठा है पहाड़
घुटनों पर पड़ी है नदी चादर-सी
पास ही दहक रही है
पलास के जंगल की अँगीठी

अन्धकार दूर पूर्व में
सिमटा बैठा है भेड़ों के गल्ले-सा।[6]

× ×

गरीबी हटाओ सुनते ही
उसने मिट्टी से अपने बाल धोये
और पालतू बन्दर के सामने बैठ गयी
जो उसके जुएँ खाने लगा।
फिर उसने अपनी लुगरी
घाट के पत्थर पर खूब पटकी
जब तार-तार हो गयी
और मैल झण्डे की शक्ल में बह निकला
तब वह धूप में तनकर खड़ी हो गयी।[7]

'कुआनो नदी' शीर्षक कविता में कवि ने ग्राम और महानगर के द्वन्द्व को उभारने का प्रयास किया है। उसे दिल्ली की सड़कें कुआनो नदी जैसी दिखायी पड़ती हैं। उसे लगता है कि महानगर गाँवों का शोषण कर रहे हैं। आगे चलकर कुआनो नदी एक साधारण नदी न रहकर व्यापक अर्थ-संकेत देनेवाला प्रतीक हो जाती है—

पानी कभी खतरे का निशान पार नहीं कर पाया
हर बार पछाड़ खा-खाकर शान्त हो गया है,
एकाध पुश्ते टूटे हैं
एकाध गाँव डूबे हैं
नक्सलबाड़ी, श्रीकाकुलम, मुसहरी,
पानी कछार में फैल
सूखी धरती और सूखे दिलों में जज़्ब हो गया है।[8]

यह उल्लेखनीय है कि सर्वेश्वर ने अपनी कविता में ग्राम्य परिवेश का जो चित्रण किया है वह रस लेने के लिए नहीं—न गाँव के प्रति अतिरिक्त मोह या अतिरिक्त भावुकता के कारण। सर्वेश्वर का ग्राम-जीवन न तो सबका मन मोहित करता है न वह धरती का स्वर्ग है। इसके विपरीत सर्वेश्वर ग्राम-जीवन के अभावों का, उसकी उपेक्षा का, उसकी तकलीफों का, चित्रण करते हैं। इस प्रसंग में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जिस मामूली आदमी की पीड़ा का चित्र सर्वेश्वर प्रस्तुत करते हैं वह प्रायः ग्रामीण परिवेश में साँस लेता आदमी है—

जिन्दगी को अर्थ देने के चक्कर में
वह व्यर्थ हो गया है
मन्दिरों में झाड़ू लगाते
और कीर्तन सभाओं की दरियाँ बिछाते-बिछाते

वह किसी भी काम के लिए असमर्थ हो गया है।[9]

× ×

यह खेतिहर मजदूर भूख से मर गया
यह चौपाये के साथ बाँढ़ में बह गया,
यह सरकारी बाग की रखवाली करता था
लू में टपक गया

× ×

मेरा बेटा मर चुका है
और मेरी बेटी आपके अस्पताल में है
जिस समय वह दबोच ली गयी थी
उस समय वह कई दिन के भूखे
बछड़े के मुख की जाली खोल रही थी
जिससे कि वह बंसवारी से होकर
कछार की ओर निकल जाय।[10]

मामूली आदमी की पीड़ा के ऐसे चित्र सर्वेश्वर की कविता में बहुत हैं। अपनी परवर्ती कविताओं में सर्वेश्वर वाह्य वास्तविकता और वाह्य यथार्थ के चित्रण की ओर विशेष रूप से उन्मुख हुए हैं। परिवेश के साथ उनका लगाव दृढ़तर होता गया है। उनकी दृष्टि आत्मपरक से वस्तुपरक होती गयी है। आज की अव्यवस्था और आज की भ्रष्ट राजनीति का तीखा चित्रण कवि ने किया है––

वह बन्द कमरा
सलामी मंच है
जहाँ मैं खड़ा हूँ
पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते
ठठरियाँ खड़खड़ाते
हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं।
झाँकियाँ निकलती हैं
ढोंग की विश्वासघात की
बदबू आती है हर बार
एक मरी हुई बात की।
लोकतन्त्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाये
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाये।

× ×

मुकुट धारण किये
घूम रहा है विज्ञापनबाज शासक
और योद्धाओं की पोशाक
बाजे वालों ने पहन रखी है।

× ×

बहुत बड़ा जंगल था यह
जिससे हम होकर आये हैं
जहाँ शेर चूहे की
और चूहे शेर की बोली बोलते थे
खरगोश हाथियों की तरह चिंघाड़ते थे
और हाथी झींगुरों की तरह
अँधेरे में सिर मारते थे।[11]

सर्वेश्वर की कविता में राजनीतिक पाखण्ड, भ्रष्ट व्यवस्था और आज की विसंगतियों का चित्रण तो मिलेगा पर उसमें किसी प्रकार का राजनीतिक मतवाद नहीं। वस्तुत: सर्वेश्वर की कविता में सामाजिक-राजनीतिक चेतना तो है पर वह किसी दल विशेष के साथ प्रतिबद्ध नहीं है। यह विशेषता हमें सर्वेश्वर के समकालीन रघुवीर सहाय और श्रीकान्त वर्मा की कविता में भी मिलती है।

सर्वेश्वर की कविता से आलोचक या प्रबुद्ध पाठक को एक शिकायत हो सकती है और वह सही भी है। वह यह कि सर्वेश्वर की कविता में स्फीति और सरलीकरण बहुत है। वह कविता में अक्सर सबकुछ समझाने की कोशिश करने लगते हैं। फलत: कविता एक सपाट कथन या वक्तव्य हो जाती है। वे कहीं-कहीं निष्कर्ष और सन्देश भी देने लगते हैं और इस तरह कविता को लचर बना देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वेश्वर की कविता एक-से-एक सुन्दर बिम्बों की योजना करती है पर जब वे उन्हें खींचना शुरू करते हैं तो कविता की सांकेतिकता जाती रहती है। उनकी 'पत्नी की मृत्यु पर' शीर्षक कविता इसलिए किसी गहरे दुख का एहसास नहीं करा पाती। इसी तरह 'गरीबी हटाओ', 'धीरे-धीरे', 'लोहिया के न रहने पर' जैसी सशक्त कविताएँ भी कमजोर हो जाती हैं। इन कविताओं का जिस ढंग से आरम्भ होता है वह बड़ा ही अर्थपूर्ण और कवित्वपूर्ण है पर कवि पूरी कविता में उसका निर्वाह नहीं कर पाता। सर्वेश्वर की कविता में जहाँ यह कमजोरी दिखायी पड़ती है वहीं सहजता उसकी एक बहुत बड़ी विशेषता भी है। नयी कविता से जिस दुर्बोध जटिलता की शिकायत पाठकों को है वह सर्वेश्वर की कविता में नहीं मिलेगी। सर्वेश्वर अपनी जिस निजी पहचान का आग्रह करते हैं वह उनकी कविता में इसी रूप में दिखायी पड़ता है अर्थात् उसकी सहजता के रूप में, उसकी आत्मीयता के रूप में और

उसके ग्राम्य जीवन चित्रण के रूप में। सम्भवतः यही उनकी कविता की अपनी निजी विशेषताएँ हैं।

ऊपर सर्वेश्वर की कविता की जो निजी विशेषताएँ कही गयी हैं वे उनके नवीनतम काव्य-संग्रह 'जंगल का दर्द' (1976) की कविताओं में भी हैं। प्रेषणीयता इन कविताओं का भी एक विशेष गुण है। अत्यन्त सरल शब्दों में कवि ने गम्भीर अर्थ-संकेत देने की कोशिश की है। इस संग्रह की कविताएँ प्रायः छोटी होती हैं। उनमें अनुभव का सरलीकरण और भावों की स्फीति नहीं है। इसीलिए ये कविताएँ अधिक अर्थगर्भित हो सकी हैं। इनमें कवि की थिर हो गयी वेदना और उसकी अनुशासित चिन्ता व्यक्त हुई है।

'कुआनो नदी' संग्रह की कविताओं के केन्द्र में गाँव है। 'जंगल का दर्द' संग्रह के केन्द्र में गाँव तो नहीं है पर वही मामूली आदमी है जिसके आगे-पीछे दोनों ओर अँधेरा है—

अब मैं किस
अँधेरे का वर्णन करूँ
जो उसके बाहर है
या जो उसके भीतर ? —सन्तवाणी

'जंगल का दर्द' संग्रह की कविताएँ सीधे जन को सम्बोधित कविताएँ हैं—उसकी कमजोरियों को। जन की कमजोरियाँ क्या हैं ? कायरता, अलगाव, इन्तजार, संशय और इन सबके साथ दयनीय पराधीनता। कवि इन सबके विरुद्ध है। वह यथास्थिति बदलना चाहता है—

संशय—
इस भाव को मिटा दो
रोशनी जल उठेगी
तुममें निर्भय

× ×

अपने हाथ में रख दो
अपना हाथ
सेतु निर्मित होगा
मिटेगा प्रलय —राह निकलेगी

× ×

इन्तजार
शत्रु है
उस पर यकीन मत करो —इन्तजार

× ×

वह पट्टा है
जिसके कारण

कुत्ता निखट्टा है —कुत्ता-3

× ×

स्थिति
आसानी से बदली जा सकती है।
केवल थोड़ी-सी हरकत जरूरी है। —एक स्थिति

'जंगल का दर्द' संग्रह की कविताएँ इस हरकत के लिए प्रेरित करती हैं—

गिरो, टूटो
बिछो, तोड़ो
फिर उबर लो।

—टीन पर ओले-2

पूरे संग्रह में कवि ने इस तरह के आह्वान किये हैं। वह जन को, कमजोरियों को तोड़ने के लिए—हरकत के लिए—ऐक्शन के लिए प्रेरित करता है। कविताएँ सपाट हैं, सीधे कथन के रूप में हैं पर अपने कथ्य के अनुरूप यही फार्म कवि को उपयुक्त जँचा है। 'आग' और 'मशाल' जैसे शब्दों का कई कविताओं में प्रयोग हुआ है। यह क्रान्तिकारी चेतना को व्यक्त करता है। कवि को भूख से लड़नेवालों में एक नया सौन्दर्य दिखायी पड़ता है। 'लाल सायकिल' और 'निश्चय की घड़ी' शीर्षक कविताओं में एक बच्चा आता है जो भावी क्रान्ति का सूत्रधार है। वह निर्भय है। वह लाल सायकिल (क्रान्ति) की घण्टी बजाता है। वह खतरनाक जंगल में निर्भय चला जाता है। इतिहास के जंगल में भेड़ियों से लड़ने का एक मात्र अस्त्र यही है—साहस और एकता—

इतिहास के जंगल में
हर बार भेड़िया माँद से निकाला जायेगा।
आदमी साहस से, एक होकर
मशाल लिये खड़ा होगा।

कभी-कभी लगता है कि 'जंगल का दर्द' संग्रह की कविताओं में कवि की विशफुल थिंकिंग है। वह जिस क्रान्ति की, जिस बदलाव की कल्पना करता है वह वर्तमान परिवेश में कठिन लगती है। फिर भी इस संग्रह में कवि की आशावादी दृष्टि को हम यूटोपिया नहीं कह सकते क्योंकि अन्ततः यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि अर्थ बड़ा है सामर्थ्य से—

निराशा की ऊँची काली दीवार में भी
बहुत छोटे रोशनदान-सी
जड़ी रहती है कोई न कोई आकांक्षा
जिसमें उजाला फँसा रहता है
और कबूतर पंख फड़फड़ाकर निकल जाते हैं।

—तीमारदारी

बदलनेवाला भी मनुष्य ही है, अतः उसकी रचनात्मक सम्भावना पर विश्वास तो रखना ही पड़ता है—

सम्भावनाएँ निरन्तर हैं :
जिन्दगी की खोज, जो रचना है,
रचना—जो सार्थक करती है,
महत्त्वाकांक्षा नहीं
जो दूसरों को छोटा करने से ही पनपती है।
मैंने खुद को तुम्हारे हाथों में
इस जंगल को छोटा करने नहीं सौंपा—कुल्हाड़ी की तरह,
एक रंग भरी कूँची की तरह
मैंने खुद को तुम्हारे हाथों में दे दिया।

—तुम्हारे हाथों में

सन्दर्भ

1. कुआनो नदी, पृ. 75
2. गर्म हवाएँ, पृ. 54
3. कुआनो नदी, पृ. 90
4. काठ की घण्टियाँ, पृ. 259, 264, 267-268, 276
5. गर्म हवाएँ, पृ. 18, 47, 60, 65, 73
6. वही, पृ. 79
7. कुआनो नदी, पृ. 41
8. वही, पृ. 35
9. गर्म हवाएँ पृ. 86
10. कुआनो नदी, पृ. 24, 71
11. गर्म हवाएँ, पृ. 15, 19, 27

आग की ओर इशारा

नये कवियों में केदारनाथ सिंह (1932 ई.) ऐसे कवि हैं जिन्होंने अन्य कवियों की अपेक्षा कम लिखा है। 'तीसरा सप्तक' में उनके परिचय में कहा गया है कि उन्होंने व्यवस्थित लेखन आरम्भ किया सन् 1950 से। तब से अब तक एक लम्बा ज़माना गुजर गया पर उनकी बहुत कम कविताएँ पाठकों के सामने आयी हैं। 'अभी बिल्कुल अभी' (1960 ई.) उनका पहला काव्य-संग्रह है तथा 'जमीन पक रही है' (1980 ई.) दूसरा। इन दोनों संग्रहों में समय का ही लम्बा अन्तराल नहीं है बल्कि दोनों की काव्यानुभूति और काव्य-भाषा में भी गहरा फर्क है। केदार के नये संग्रह की भाव-भूमि इतनी भिन्न है कि उस पर अलग से ही विचार उपयुक्त होगा। लेकिन पहले उनकी आरम्भिक कविताओं से बात शुरू की जाय। 'एक पारिवारिक प्रश्न' शीर्षक कविता में केदारजी कहते हैं—

छोटे से आँगन में
माँ ने लगाये हैं
तुलसी के बिरवे दो
पिता ने उगाया है
बरगद छतनार
मैं अपना नन्हा गुलाब
कहाँ रोप दूँ!

उपर्युक्त कविता में अपना नन्हा गुलाब रोप देने की आकांक्षा के पीछे कवि की वह चेतना है जिसे उसके 'मैं' की चेतना कहा जा सकता है। यह चेतना कवि की अनेक कविताओं में देखी जा सकती है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि केदारनाथ सिंह की कविताओं में 'मैं' शब्द का इस्तेमाल बहुत हुआ है। 'अभी बिलकुल अभी' (1960 ई.) संग्रह की 'प्रक्रिया', 'हस्ताक्षर कर देता हूँ', 'अपनी छोटी बच्ची के लिए एक नाम', 'एक पारिवारिक प्रश्न', 'पिता से', 'खोल दूँ यह आज का दिन', 'कमरे का

दानव', 'मैं नहीं हूँ मन्त्रद्रष्टा', 'दरपन से एक निजी बातचीत', 'चाँदनी में मैं' आदि अनेक कविताएँ इस दृष्टि से पढ़ी जा सकती हैं। यह 'मैं' की चेतना कवि की कविताओं को आत्मपरक बनाती है। वह मनुष्य की नियति को, उसकी पीड़ा को, समय के दबाव को अपने भोग के स्तर पर निजी बनाकर व्यक्त करता है। आशा, आकांक्षा, प्यास, अतृप्ति, बेचैनी, अकेलेपन की उदासी इस कवि में कहीं बहुत गहरी है। कवि द्वारा अंकित आकुल गति-चित्र उसकी भीतरी प्यास और बेचैनी को व्यक्त करते हैं—

मुट्ठी में प्रश्न लिये
दौड़ रहा हूँ बन-वन
पर्वत-पर्वत
लाचार।

'प्रक्रिया' शीर्षक कविता में वह लिखता है—

मैं जब हवा की तरह
दृश्यों के बीच से गुजरता हुआ
अकेला होता हूँ···

'नीला पत्थर' शीर्षक कविता में वह फिर कहता है—

जाने कहाँ
कौन पर्वत है !
जिससे रोज़ लुढ़ककर
मेरे पास चला आता है
नीला पत्थर !
जब मैं कभी अकेला
बहुत अकेला होता हूँ।

'पपीहा-दिन' और 'दुपहरिया' शीर्षक कविताएँ तो प्यास, उदासी और अकेलापन को मूर्तिमान करनेवाली कविताएँ हैं। 'हम जो सोचते हैं' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

हर जेब के भीतर
कुछ दबे-दबे फूल हैं
और हर फूल के नीचे
एक मरी हुई भाषा
जिसे सूरज समझता है
....

समुद्र
वहाँ नहीं है
जहाँ दिन के सतरंगे घोड़े
उतरते हैं

वह हमारे आसपास
हमारी छाती में
हमारे बन्द पन्नों के भीतर है
जहाँ रात के सन्नाटे में
हम सोचते-से रहते हैं !

उपर्युक्त पंक्तियों में वह 'मैं' की चेतना देखी जा सकती है जो कवि की कविताओं को एक आत्मपरक निजता प्रदान करती है। कहना न होगा कि केदारनाथ सिंह का उदय एक गीतकार के रूप में हुआ था और 'अभी बिल्कुल अभी' संग्रह में उनका गीतकार रूप कम नहीं उभरा है। 'तीसरा सप्तक' में भी अधिक संख्या केदार के गीतों की ही है। पर इन गीतों में अनुभव की एक नयी ताजगी और भाषा की एक विशिष्ट चमक है जो उन्हें समकालीन अन्य गीतकारों से अलग करती है। इन गीतों की जमीन तो वही है अर्थात् प्यार और प्रकृति की पर कवि ने इस जमीन को एक नयी और निजी आभा प्रदान की है। वह प्यार और प्रकृति के उन अछूते रूपों का स्पर्श करता है जिन पर अन्य कवियों की दृष्टि नहीं गयी थी। सौन्दर्य के ताजे सूक्ष्म चित्र केदार की कविताओं में बहुत मिलेंगे। 'दुपहरिया', 'फागुन का गीत', 'वसन्त गीत', 'पात नये आ गये', 'धानों का गीत', 'रात', 'विदा-गीत' आदि प्रसिद्ध गीतों तथा अन्य कविताओं में कवि की भाषा, लय और बिम्ब-योजना की विशिष्टता लक्षित की जा सकती है। उसकी भाषा में लोकजीवन की भीनी गन्ध है। यह गन्ध भी एक खास अंचल की है जिसे भोजपुरी अंचल कह सकते हैं। लेकिन इस गन्ध में लोकजीवन का संघर्ष नहीं है। उसका कोमल पक्ष है। लय में उसने तरह-तरह के प्रयोग किये हैं। बिम्ब-योजना पर तो वह घोषित रूप से सबसे अधिक ध्यान देनेवाला कवि रहा है। 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में वह कहता है, "मानव-संस्कृति के विकास में कवि का योग दो प्रकार से होता है—नवीन परिस्थितियों के तल में अन्तःसलिला की तरह बहती हुई अननुभूत लय के आविष्कार के रूप में तथा अछूते बिम्बों की कलात्मक योजना के रूप में।"

'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में केदारनाथ सिंह ने स्वीकार किया है कि प्रकृति बहुत शुरू से उनके भावों का आलम्बन रही है। अपने गीतों तथा अपनी कविताओं द्वारा उन्होंने इस स्वीकृति के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। केदारजी की कविताओं में प्रकृति और मुख्यतः ग्राम्य प्रकृति अपने विविध रूपों में चित्रित हुई है। नदी, नाले, फूल, जंगल, तट, धूप, सरसों के खेत, धानों के बच्चे, बन, सान्ध्यतारा, बसन्त, फागुनी हवा, पकड़ी के पात, कोयल की कूक, पुरवा-पछुवा हवा, शरद प्रात, हेमन्ती रात, चिड़िया, घास, फुनगी आदि—बहुरूपी प्रकृति-संसार केदार की कविता में रूपायित मिलेगा—

ओस भरे
काँपते गुलाब की टहनी पर
तितली के पंखों-सी सटी हुई
धूप !

× ×

यह कैसा वातास—
कि मन को नयन-नयन कर दिया,
गीत को चुप्पी से भर दिया,
भर दिया—यह कैसा वातास !
घर थर-थर
वन थर-थर
सारा जीवन थर-थर
यह कैसा उल्लास

× ×

शरद तुम्हारे खेतों में सोना बरसाये
छज्जों पर लौकियाँ चढ़ाये,
टहनी-टहनी फूल लगाये,
पत्ती-पत्ती ओस चुआये,
मेड़ों-मेड़ों दूब उगाये
शरद तुम्हारे बालों में गुलाब उलझाये

ऋतुओं में केदार को सबसे अधिक प्रिय है वसन्त और फूलों में गुलाब। वैसे उनका प्रकृति-संसार व्यापक है और उसमें उन्होंने अपनी उदासी और अपना उल्लास दोनों पाया है। इस सन्दर्भ में 'तीसरा सप्तक' का उनका यह वक्तव्य —"मैं मन को बराबर खुला रखने की कोशिश करता हूँ, ताकि वह आसपास के जीवन की हल्की-से-हल्की आवाज को भी प्रतिध्वनित कर सके"—सही जान पड़ता है।

केदारनाथ सिंह की कविता में जिस प्रकार 'मैं' की चेतना तीव्र है उसी प्रकार काल की चेतना भी। इस सन्दर्भ में सबसे पहले उनकी कुछ कविताओं के शीर्षक गौर करने लायक हैं—'आज का दिन', 'नये वर्ष के प्रति', 'नये दिन के साथ', 'रचना की आधी रात', 'दुपहरिया', 'सूर्यास्त', 'शाम', 'रात', 'सुबह', आदि। ये सारे शीर्षक एक समय-बोध को व्यक्त करते हैं। केदार की कविताओं में यह बोध बहुत तीव्र है। 'खोल दूँ यह आज का दिन' शीर्षक कविता में कवि सोचता है—

खोल दूँ यह आज का दिन !
जिसे
मेरी देहरी के पास कोई रख गया है

एक हल्दी-रँगे
ताजे
दूरदेशी पत्र सा !

पर उसे सन्देह होता है—

पर एक नन्हा-सा
किलकता प्रश्न आकर
हाथ मेरा थाम लेता है।
कौन जाने क्या लिखा हो !
(कौन जाने अँधेरे में
दूसरे का पत्र मेरे द्वार कोई रख गया हो)

कविता की अन्तिम पंक्तियों में वह कहता है—

हाथ
जिसने द्वार खोला
क्षितिज खोले
दिशाएँ खोलीं
न जाने क्यों इस महकते
मूक, हल्दी-रँगे, ताजे
किरण-मुद्रित सन्देशे को
खोलने में काँपता है !

उपर्युक्त पंक्तियों में 'कौन जाने' तथा 'न जाने क्यों' जैसे प्रयोगों पर ध्यान दें। इस कविता का विश्लेषण दिलचस्प होगा। इस कविता में वर्तमान के प्रति कवि की मन:स्थिति सन्देह और शंका की मन:स्थिति है। ठीक इसी प्रकार की एक दूसरी कविता है 'नये वर्ष के प्रति'। इस कविता में भी शुरू से अन्त तक कवि की मन:स्थिति सन्देह और आशंका की है—

ओ अपरिचित
लाओगे ! क्या लाओगे !
....

अनछुए तट
या कि रस्तों के नये भटकाव
धूप गन्धी पंख चिड़ियो के
कि टूटे आँधियों के पाँव !
लाओगे ! क्या लाओगे !
नया कोई शब्द
शाखों के लिए
या फिर वही की वही कूक
अनाम।

नये समझौते

कि बँधती और खुलती मुट्ठियाँ

निष्काम।

लाओगे ! क्या लाओगे !

उपर्युक्त पंक्तियों में 'या कि', 'या फिर' जैसे प्रयोग देखें। कवि की यह मनःस्थिति वर्तमान और भविष्य दोनों के प्रति है। 'निराकार की पुकार' शीर्षक कविता में वह लिखता है--

कल उगूँगा मैं !

आज तो कुछ भी नहीं हूँ

पेड़, पत्ती, फूल, चिड़िया, घास, फुनगी

आह, कुछ भी तो नहीं हूँ

कल उगूँगा मैं !

फिर ठीक इसके बाद की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भोर से पहले

तुम्हारे द्वार पर

या रास्ते में

खँडहरों के पास

या फिर किसी अनदेखे उपेक्षित कूल पर

कल उगूँगा मैं !

कवि की यह शंकाग्रस्त मनःस्थिति उसकी किसी एक कविता में नहीं बल्कि अनेक कविताओं में अनेक बार व्यक्त हुई है। 'अनागत' कविता की चर्चा तो बार-बार हुई है। उसी कविता का एक अंश इस प्रकार है—

आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी

हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है !

कौन जाने कब, कहाँ वह दीख जाये ?

हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है !

यह ध्यान देने की बात है कि कवि की एक कविता का शीर्षक ही है 'शंका-पुत्र'। इस कविता में वह लिखता है—

कहीं भीतर एक भय है।

आह

शंका-पुत्र

तुम न जानोगे

नम सुबह की यह पिघलती भाप

मैं ही हूँ !

संशय और भय की यह मनःस्थिति कवि की निम्नलिखित पंक्तियों में भी द्रष्टव्य है—

घरों में जाता हूँ
इधर-उधर बिखरी
वेशक्ल पड़ी चीजों को
हल्के उठाता हूँ
किसी नये क्रम में
फिर सबको
सजाता हूँ;
और कहीं
कोने में
दुबके संशय पर
हस्ताक्षर
कर देता हूँ !

—हस्ताक्षर कर देता हूँ

× ×

कौन जाने
किस शिखर पर
एक टूटी नाव-सा
मुझको उठाकर फेंक देगा
यह पिघलते सितारों का
अन्तहीन बहाव !

—चाँदनी में मैं

केदारनाथ सिंह की कविताओं में ऐसा कुछ अक्सर मिलता है जो अदृश्य है, जो अस्पष्ट है, जो गुजर रहा है या जिसकी झिलमिलाहट महसूस हो रही है। उनकी 'दीपदान' शीर्षक कविता एक बड़ा आत्मीय घरेलू चित्र प्रस्तुत करनेवाली कविता है। इस कविता में कवि घर के अत्यन्त परिचित स्थानों पर दीप जलाने की बात करता है। पर इस अत्यन्त निजी वातावरण में भी वह यह कहना नहीं भूलता—

एक दिया
उस पगडण्डी पर
जो अनजान कुहरों के पार
डूब जाती है !

यहाँ 'अनजान कुहरों के पार' जैसी शब्दावली पर ध्यान दिया जाना चाहिए। 'जलहँसी' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

हँसी वह फैल गयी
दूर-दूर लहरों में
लहरों की भीतरी गुफाओं-कन्दराओं में
गूँजती चली गयी
.............;

समय के आर-पार गूँजती अनामा
यह हँसी
पकड़ रक्खूंगा !

उपर्युक्त पंक्तियों में 'भीतरी गुफाओं-कन्दराओं' तथा 'समय के आर-पार गूँजती अनामा' जैसी शब्दावली ध्यान देने योग्य है। 'बादल ओ' शीर्षक कविता में कवि को 'न जाने किन जनमों की' याद आती है और वह बादल को 'परियों के देश में' जोहता है—

हमें याद आई है जाने किन जनमों की
आज हो गया है जी उन्मन !
....

फिर नयन तुम्हें जोहेंगे
जूही के जादू बन में
परियों के देश
साँझ के सूने टीलों पर।

अब केदारनाथ सिंह की कविताओं में प्रयुक्त कुछ खास शब्दों पर विशेष रूप से गौर करने की जरूरत है। ये कुछ खास शब्द ये हैं— कहीं, कोई, आगे कौन, जाने किसकी, न जाने कैसे, अपरिचित, अनाम, अनबूझ, अनबीती, अनबुने, अनबोले, अनदेखी, अयाचित, अनबीनी, अनपढ़ा, अनगाये, अनसुना, अनजान, अजनबी फरिश्ते, अकल्पित अछूता आकार, अजानी घाटियाँ, अनाघ्रात अर्थ, अनछुए तट, अनजाने द्वीप, अनजाने कुहरे, अजनमे स्वर, फूल अजनबी, अजनमे पुल, अनगिनत जन्मों पार, अनजान बन पथ, अज्ञात नवयुग, झिलमिलाता क्षितिज, तलहटी, घाटियाँ, गुफाएँ, कन्दराएँ आदि। इस शब्दावली की मनोभूमि क्या है ? यह शब्दावली हमें वर्तमान के पार ले जाती है—कभी अतीत की ओर कभी भविष्य की ओर। इस शब्दावली में कई भाव मिले-जुले हैं—कहीं शंका, कहीं भय, कहीं अतृप्ति, कहीं उदासी। और कुल मिलाकर यह शब्दावली एक काल-चेतना से जुड़ी हुई है। इसीलिए 'नये वर्ष के प्रति' कविता में कवि ने नये वर्ष को 'अपरिचित' कहा है तथा 'पूर्वाभास' कविता में उसने सुबह को 'अजनबी फरिश्ता' कहा है। 'जीने के लिए कुछ शर्तें' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

जरूरी है
हम जहाँ हों
वहाँ से दिखता रहे वह झिलमिलाता
क्षितिज
....

कभी कोई कबूतर निकल जाये
कभी कनखी से अचानक

दूर मन्दिर-कलश की
कुछ लहरियाँ दिख जायें
....

कहीं हों परछाइयाँ
जिनसे हवा में
खयालों के कोण बनते रहें
कहीं हो सम्भावना

उपर्युक्त पंक्तियों में 'झिलमिलाता क्षितिज', 'मन्दिर-कलश', 'परछाइयाँ' और 'सम्भावना' जैसे शब्दों में एक आशावादिता भी है और एक भविष्य-चेतना भी। इस विश्लेषण को पुष्ट करते हुए 'तीसरा सप्तक' के अपने परिचय में कवि कहता है, "हर लम्बे दिन के बाद जब लौटकर आता हूँ तो कुछ देर तक कमरे के दानव से लड़ना पड़ता है। पराजित कोई नहीं होता। पर समझौता भी कोई नहीं करता। शायद हम दोनों को यह विश्वास है कि हमारे बीच एक तीसरा भी है जो अजन्मा है। कौन जाने यह संघर्ष उसी के लिए हो।"

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, 'जमीन पक रही है' संग्रह की कविताएँ कवि की आरम्भिक कविताओं से अलग बिल्कुल भिन्न जमीन की कविताएँ हैं। 'मुक्ति' शीर्षक कविता में वह लिखता है—

आदमी आदमी—मैं लिखना चाहता हूँ
एक बच्चे का हाथ
एक स्त्री का चेहरा

मैं पूरी ताकत के साथ
शब्दों को फेंकना चाहता हूँ आदमी की तरफ
यह जानते हुए कि आदमी का कुछ नहीं होगा
मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका
जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है

ऊपर की पंक्तियों में 'आदमी', 'एक बच्चे का हाथ', 'एक स्त्री का चेहरा', 'सड़क', 'धमाका' 'शब्द और आदमी की टक्कर' जैसे प्रयोगों पर गौर करना आवश्यक है। इन प्रयोगों में केदार की कविताओं का अर्थ खुलता है। उनकी कविता 'आदमी', 'बच्चा' और 'स्त्री' अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्य की कविता है। बच्चे का 'हाथ' जितना सम्भावनापूर्ण और समर्थ होता है, स्त्री का 'चेहरा' उतना ही अभेद्य और करुणापूर्ण। इसी के साथ यदि आदमी की 'नंगी पीठ' (जिसे कवि ने 'उसके चेहरे से ज्यादा दिलचस्प और तर्कसम्मत' कहा है) को मिला दें तो स्त्री, बच्चे और आदमी का एक मुकम्मल अस्तित्व साकार हो उठता है। केदार की कविता में 'एक बच्चे

का हाथ', 'एक स्त्री का चेहरा' और 'एक आदमी की नंगी पीठ' कितना अर्थ देने लगती है। पुरुष, स्त्री और बच्चे के और भी चित्र उनकी कविता में जगह-जगह उभरते हैं। बानगी के तौर पर नीचे तीनों के क्रमशः एक-एक चित्र प्रस्तुत हैं—

जो सिर्फ पिट रहा था
उसे देखना मुश्किल था
सिर्फ उसकी पीठ से खून गिर रहा था
सिर्फ उसके जूते सड़क पर पड़े थे
... ...

मुझे टमाटरों की रोशनी में
उसका लहकता हुआ चेहरा दिखायी पड़ता है
वह माँ का चेहरा है—मैं खुद से कहता हूँ
... ...

मैंने देखा वे धीरे-धीरे
कुएँ से झाड़ी की ओर बढ़ रहे हैं
झाड़ी से शहर की ओर
उनके मुक्के तने हुए थे
आखिर गेंद—गेंद कहाँ है
वे चिल्ला रहे थे ?

'जमीन पक रही है' संग्रह की कविताओं में 'भूख', 'रोटी', 'नमक', 'दाना', 'कुल्हाड़ी', 'पतीली', 'चूल्हा', 'तवा', 'आलू', 'आटा', 'चक्की' आदि शब्द एकाधिक बार आते हैं। इनमें 'चीखती चिड़िया', 'दाने के लिए भूखी चिड़िया', 'गट्ठर लादे चलता बैल', 'भूखा आदमी', 'लकड़ी चीरता आदमी', 'पिता की चाय के लिए नुक्कड़ की दुकान तक अकेला जाता बच्चा', 'टमाटर बेंचनेवाली बुढ़िया' आदि के चित्र उभरते हैं। 'रोटी' शीर्षक कविता में रोटी को कवि ने दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज कहा है। हर बार जब वह उसे आग से निकालते हुए देखता है, उसे लगता है उसने उसका शिकार किया है। हर बार वह उसे पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगी है। पहले से ज्यादा गोल और खूबसूरत। पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई। यह रोटी के लिए आदमी के शाश्वत संघर्ष की अभिव्यक्ति है। 'बैल' शीर्षक कविता में बैल उस मजबूर आदमी का प्रतीक हो जाता है जो दूसरों की इच्छा से संचालित होता है——

वह चल रहा है और सिर्फ एक पगडण्डी
उसे याद है जो उसकी पूंछ की तरह
उसे हाँके लिये जा रही है
....

वह ऐसा जानवर है जो दिन-भर
भूसे के बारे में सोचता है
रात भर ईश्वर के बारे में
....

वह पूँछ उठाता है और बस्ती के इक्कीस
चक्कर लगाने के बाद
पाता है—वह ठीक अपने हल के
सामने खड़ा है

'आलू' शीर्षक कविता में आलू भी इसी प्रकार का एक प्रतीक बन जाता है। लगता है जैसे बाजार में आलू नहीं कोई आदमी बिक रहा है—

वह जमीन से निकलता है और सीधे
बाजार में चला आता है
...   .

वह बाजार में ले आता है आग
और बाजार जब सुलगने लगता है
वह बोरों के अन्दर उछलना शुरू करता है
वह चाकू पर गिरने के लिए तत्पर
हर नमक में घुलने के लिए तैयार

'सूर्य' शीर्षक कविता सूर्य के परस्पर विरोधी प्रभाव-चिह्नों के द्वारा असमानता के द्वन्द्व को बारीकी के साथ उभारती है। सूर्य यदि एक ओर किसी गंजे तथा मुस्तण्ड आदमी के भविष्य में गायब हो जाता है तो दूसरी ओर मामूली आदमी के लिए वह सिर्फ एक कुल्हाड़ी है जिसे वह कन्धे पर रखकर जंगल की ओर चल देता है—

मेरा खयाल है
वह आसमान से नहीं
किसी जानवर की माँद से निकलता है
और एक लम्बी छलांग के बाद
किसी गंजे तथा मुस्तण्ड आदमी के भविष्य में
गायब हो जाता है
अकेला
और शानदार

हालाँकि मेरी बस्ती के ज्यादातर लोगों के लिए
वह सिर्फ एक लपट है
सिर्फ एक अँगीठी
, जिस पर रोटी नहीं सेंकी जा सकती।

'बढ़ई' और 'चिड़िया' शीर्षक कविता में लकड़ी एक स्तर पर उस व्यवस्था का प्रतीक हो जाती है जिसमें चिड़िया का दाना गायब हो गया है। यह ध्यान देने की बात है कि 'जमीन पक रही है' संग्रह की कविताओं में 'चिड़िया' और 'माँ' जैसी संज्ञाओं तथा 'चीखना' और 'पकना' जैसी क्रियाओं का प्रायः अधिक प्रयोग हुआ है। 'चिड़िया' और 'माँ' संज्ञा तथा 'चीखना' क्रिया के द्वारा कवि ने आज की क्रूर यातनापूर्ण स्थिति को जितनी तीव्रता से व्यक्त किया है उतनी तीव्रता से शायद ही किसी दूसरी संज्ञा और क्रिया से व्यक्त कर पाता––

यह माँ की आवाज है—मैंने कहा
चक्की के अन्दर माँ थी
पत्थरों की रगड़ और आटे की गन्ध से
धीरे-धीरे छन रही थी
माँ की आवाज
....

सिर्फ चक्की चलती रही
और माँ की आवाज आती रही
रात-भर
... ...

वह चीर रहा था
और चिड़िया खुद लकड़ी के अन्दर
कहीं थी
और चीख रही थी

'चिड़िया' और 'माँ' केवल चिड़िया और माँ नहीं हैं, आकांक्षा भी हैं, स्वप्न भी हैं—मुक्ति के, लगाव के। इस आकांक्षा जौर स्वप्न को 'माँझी का पुल' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है जिसमें 'माँझी का पुल' एक ईंट-पत्थर का पुल न रहकर मनुष्य की आकांक्षाओं और उसके सपनों का प्रतीक बन जाता है—

मैंने पहली बार
स्कूल से लौटते हुए
उसकी लाल-लाल ऊँची मेहराबें देखी थीं
यह सर्दियों के शुरू के दिन थे
जब पूरब के आसमान में
सारसों के झुण्ड की तरह डैने पसारे हुए
धीरे-धीरे उड़ता है माँझी का पुल
... ...

लाल मोहर हल चलाता है
और ऐन उसी वक्त
जब उसे खैनी की जरूरत महसूस होती है
बैलों के सींगों के बीच से दिख जाता है
माँझी का पुल
... ...

दोपहर की धूप में
जब किसी के पास कोई काम नहीं होता
तो पके हुए ज्वार के खेत की तरह लगता है
माँझी का पुल
... ...

मैं खुद से पूछता हूँ
कौन बड़ा है
वह जो नदी पर खड़ा है माँझी का पुल
या वह जो टँगा है लोगों के अन्दर ?

यहाँ प्रतीक स्पष्ट है। माँझी का पुल अर्थात् लोगों के भीतर का सपना।

'पकना' क्रिया का इस्तेमाल कवि ने 'बूढ़े होने' और 'चुकने' के अर्थ में नहीं बल्कि आगे बढ़ने के अर्थ में किया है। 'रोटी' शीर्षक कविता में वह लिखता है—

वह पक रही है
और पकना
लौटना नहीं है जड़ों की ओर
वह आगे बढ़ रही है
धीरे-धीरे
झपट्टा मारने को तैयार
वह आगे बढ़ रही है

इसीलिए कवि पकते हुए दाने के भीतर अपने शब्दों को तलाशता है—

चुप रहने से कोई फायदा नहीं
मैंने दोस्तों से कहा और दौड़ा
सीधे खेतों की ओर
कि शब्द कहीं पक न गये हों
... ...

पकते हुए दाने के भीतर
शब्द के होने की पूरी सम्भावना थी।

'नाटक शुरू होने से पहले' कविता उस वास्तविकता का संकेत करती है जिसमें एक मामूली आदमी नाटक को भोग भी रहा है और उसके निर्मम

रहस्यों से नावाकिफ भी है। 'बैल' कविता में भी यह अदृश्य गन्ध आती है—

एक गन्ध आ रही है
और वह नहीं जानता
कहाँ से
लेकिन एक गन्ध आ रही है
और ढोल बज रहा है
और जंगल में पेड़ काटे जा रहे हैं
और मेमने उसके खुरों को कुचल रहे हैं

आज के आतंक की स्थिति में चारों ओर व्याप्त चुप्पी और समझौते की प्रवृत्ति का संकेत 'हमलावर' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में बखूबी मिल जायेगा—

वे फिर आ रहे हैं
....

मगर यह सारा शहर चुप क्यों है ?
कोई पत्ता कहीं हिलता क्यों नहीं ?
कोई आदमी किसी को आवाज क्यों नहीं देता इस शहर में ?
क्या अपनी भाषा की सारी क्रियाएँ
हमने इसलिए ध्वस्त कर दी हैं
कि जब वे आयेंगे
तो उनसे बातचीत करने में
आसानी होगी ?

'जमीन पक रही है' संग्रह की कविताएँ मानव नियति का सीधा साक्षात्कार करती हैं। अमानवीय दबाव का विरोध करती हैं तथा आज की सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों का चित्रण करती हैं। केदार अपने ही पुराने मुहावरे को तोड़कर आगे आये हैं और उन्होंने सचेत दृष्टि से चीजों को नये दौर से गुजरते देखा है—

मैं बहस शुरू तो करूँ
पर चीजें एक ऐसे दौर से होकर
गुजर रही हैं
कि सामने की मेज को
सीधे मेज कहना
उसे वहाँ से उठाकर
अज्ञात अपराधियों के बीच में रख देना है।

—फर्क नहीं पड़ता

... ...

मैंने अपने समय के सबसे मजबूत आदमी को
अँधेरे से कूदकर
एक माचिस के अन्दर जाते हुए देखा है
...   .

दुश्मन
कहीं दिखायी नहीं पड़ता
रेडियो उसके नाम का जिक्र कभी नहीं करता
नमक और पानी
सिर्फ दो शब्द मेरे पास हैं
तीसरा हमेशा उसके पास रहता है
पर कितना अजीब है
कि सारी सुविधाओं के बावजूद
इस समय
टेलीफोन के किसी भी नम्बर पर
उससे सम्पर्क नहीं स्थापित किया जा सकता —दुश्मन

इस प्रकार केदार की कविता आज की वास्तविकता, व्यवस्था की क्रूरता, समझौता, चुप्पी, मामूली आदमी की पीड़ा और उसके संघर्ष का चित्रण बहुत सांकेतिक ढंग से करती है। यह जमीन न केवल केदार की पहले की कविताओं से भिन्न है बल्कि आज की कविता के मुहावरे से भी। आज की कविता में जो आक्रोश, विद्रोह और आक्रामकता की मुद्रा है वह केदारनाथ सिंह की कविताओं में नहीं मिलेगी। उन कविताओं में चालू मुहावरों का जो दुहराव और सेक्स का जो प्रदर्शन है वह भी केदारजी की कविता में नहीं मिलेगा। उनकी कविताओं में एक गहरा काव्यानुशासन और संयत मुद्रा है। मितकथन है। केदार की ताकत गोली-बन्दूक की नहीं, शब्द की ताकत है। वे शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होनेवाले धमाके को सुनना चाहते हैं। उनकी कविताओं में राजनीतिक चिन्ता है पर वह पार्टी-राजनीति की चिन्ता नहीं है। उनके भीतर अपनी कविता की शक्ति को लेकर कोई फालतू भ्रम भी नहीं है। वे जानते हैं कि वे सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहे हैं—

आप विश्वास करें
मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ

वे इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि दीवार को लोहा नहीं, सिर्फ आदमी का सिर तोड़ सकता है—

एक फावड़े की तरह उससे पीठ टिकाकर
एक समूची उम्र काट देने के बाद

मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ
कि लोहा नहीं
सिर्फ आदमी का सिर उसे तोड़ सकता है

आदमी के सिर पर उन्हें विश्वास है लोहे से अधिक। इसीलिए उनकी कविता भावुकता से नहीं, समझदारी से लिखी गयी कविता है। यह समझदारी केदार के शब्द-प्रयोगों में दिखायी पड़ती है। वे कम-से-कम शब्दों का प्रयोग करते हैं और मामूली शब्दों से कविता बनाते हैं। देखने में शब्द जितने ही परिचित लगते हैं, समझने में उनके अर्थ उतने ही अपरिचित। केदार की भाषा इकहरी नहीं होती। वह अनुभवों का सरलीकरण नहीं होती। वह अनेक जटिल अर्थ-स्तरों पर सक्रिय होने लगती है। उदाहरणार्थ 'धूप में घोड़े पर बहस' शीर्षक उनकी कविता घोड़े के साथ ही किसी भी विषय पर बहस हो सकती है। वह दरअसल है भी नहीं घोड़े पर। वह किसी भी उस चीज के बारे में है जिसकी कमी कवि महसूस करता है। यह अनेकार्थता केदार की कविता को कहीं-कहीं दुर्बोध भी बना देती है। उनके बिम्ब इतने नये और ताजे होते हैं कि पढ़ते ही आकृष्ट करते हैं और प्रायः चौंकाते भी हैं। निस्सन्देह केदार नयी कविता के एक अत्यन्त समर्थ कवि हैं और उनकी कविता में मनुष्य तथा विराट प्रकृति के प्रति एक गहरी आत्मीयता है पर उन्हें अपनी कविता को एक खतरे से बचाना जरूरी है। वह खतरा है दुरूहता और अस्पष्टता का।

जो घटा है बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ

किसी कवि को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके पूरे काव्य-विकास पर गौर करना जरूरी है। इससे न केवल कुछ नये तथ्य सामने आते हैं बल्कि कुछ आश्चर्यजनक अन्तर्विरोध भी देखने को मिल जाते हैं। श्रीकान्त वर्मा (1931 ई.) के चारों काव्य-संग्रहों—'भटका मेघ' (1957), 'दिनारम्भ' (1967), 'माया-दर्पण' (1967) और 'जलसाघर' (1973)—को एक साथ पढ़ते हुए कुछ ऐसी ही बातें मन में आती हैं।

'भटका मेघ' श्रीकान्त का पहला काव्य-संग्रह है। इस संग्रह की पहली ही कविता है 'भटका मेघ' जिसमें आषाढ़ का पहला बादल अपनी बेचनी व्यक्त करता है। वह अलकापुरी को भूलकर धरती की प्यास हरना चाहता है। सूखे पेड़ों, पौधों, अँकुओं की मौन पुकार सुनना चाहता है। धरती और मनुष्य के साथ अपना रिश्ता नहीं तोड़ना चाहता—

जिस पृथ्वी से जन्मा
उसे भुला दूं
यस कैसे सम्भव है ?
पानी की जड़ है पृथ्वी में
बादल तो केवल पल्लव है।
मुझमें अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा है।
मुझे क्षमा करना कवि मेरे !
तुमने जो दिखलाया मैंने
उससे कुछ ज्यादा देखा है।
मैंने सदियों को मनुष्य की आँखों में घुलते देखा है।[1]

इस पूरी कविता को पढ़ते हुए तीन बातें बहुत साफ-साफ लक्षित होती हैं—(1) कवि का दायित्व-बोध, (2) उसका अन्तर्द्वन्द्व और उसके भीतर की बेचैनी, तथा (3) धरती और मनुष्य के साथ उसका लगाव। गौर करें तो

ये तीनों बातें एक ही हैं अर्थात् धरती और मनुष्य के साथ लगाव। इसी लगाव को कवि अपना दायित्व मानता है और इसी दायित्व को निभाने की बेचैनी उसके मन में है। अपने इसी दायित्व से भटकना मेघ का भटकना है जो अन्ततः मेघ के नहीं, कवि-मन के ही भटकने की व्यथा है। कविता की अन्तिम पंक्तियों तक पहुँचकर मेघ अपना दायित्व पूरा करने का संकल्प करता है—

मेरा मन भर आया है कवि,
अब न रुकूँगा।
अलका भूल चुकी मैं अब तो
इस धरती की प्यास हरूँगा।
सूखे पेड़ों, पौधों, अँकुओं की अब मौन पुकार सुनूँगा।
सुखी रहे तेरी अलका मैं
यहीं झरूँगा।
अगर मृत्यु भी मिली
मुझे तो
यहीं मरूँगा।[2]

यह मेघ का नहीं, स्वयं कवि का संकल्प है। गौर करें तो ऊपर उद्धृत पंक्तियों में अन्तिम तीन की आवश्यकता मेघ के सन्दर्भ में नहीं थी। मेघ का कर्म तो झरने के साथ ही समाप्त हो जाता है। आगे की तीन पंक्तियों में यदि 'मृत्यु' और 'मरने' की चर्चा हुई है तो यह व्यक्ति का सन्दर्भ है जो कवि-मन का निजी संकल्प व्यक्त करता है।

'भटका मेघ' संग्रह की अन्य कविताओं में भी कवि की दायित्व चेतना, उसके भीतर की बेचैनी तथा धरती और मनुष्य के साथ उसका लगाव व्यक्त हुआ है। इस संग्रह की कविताओं में जिस शब्द का सबसे अधिक इस्तेमाल हुआ है वह शब्द है 'यात्रा'। कहीं मेघों की यात्रा, कहीं पगडण्डी की यात्रा, कहीं पक्षियों की यात्रा, कहीं नदी की यात्रा। इसके साथ ही 'दिग्भ्रमित होना', 'डगमगाना' और 'भटकना' जैसी क्रियाओं का भी काफी प्रयोग हुआ है। ये सब चलने की अर्थात् यात्रा की ही स्थितियाँ हैं। इन शब्दों का अधिक इस्तेमाल कवि की महत्त्वाकांक्षा और उसकी भीतरी बेचैनी को व्यक्त करता है। वह जड़ता को तोड़कर आगे बढ़ना चाहता है—गति और परिवर्तन चाहता है—

मैं हूँ इस नदिया का बूढ़ा पुल।
कब तक अपनी जड़ता बोहूँ
मुझको भी यात्रा में परिणत कर दो।[3]

गति की कोई-न-कोई दिशा होती है। 'भटका मेघ' संग्रह की कविताओं में यह दिशा आस्था की दिशा है—

कब से इन बेलों, काँटों, लतरों से लड़ता
मैं साफ कर रहा
अन्धकार का बीहड़ पथ।
हर झाड़ी मुझको कसने को
अपनी बाँहें फैलाये है !
मैं अब तक कभी नहीं सिसका,
लेकिन मैं भी रो सकता हूँ
मेरे दिल में फूलता
दर्द का गुब्बारा फट सकता है।
जब घबरा जाऊँ ओ मेरी आस्था !
मुझे आवाज लगाना तू।[4]

'भटका मेघ' संग्रह की कई कविताओं में कवि ने आस्था की गुहार लगायी है और उसे महत्त्व दिया है। 'आस्था', 'आस्था की प्रतिध्वनियाँ', 'स्वरों का समर्पण' आदि कविताएँ उदाहरण के लिए पढ़ी जा सकती हैं। आस्था का मतलब हमेशा समर्पण नहीं होता। इस संग्रह की कविताओं में आत्मगौरव और परिवर्तन की छटपटाहट देखी जा सकती है। वह परम्परा को स्वीकार भी करता है और उसे तोड़ने का भी आग्रह करता है। 'खाई की आत्माएँ' शीर्षक कविता में अतीत और भविष्य के बीच की कड़ी के टूट जाने की व्याकुलता व्यक्त हुई है तो 'पुत्र का निवेदन' शीर्षक कविता में अपने पिता-माता से लड़ने का आशीर्वाद माँगा गया है। कवि का आत्मगौरव और उसका विश्वास बराबर जिन्दा रहता है। वह अपने को 'मणि का स्वामी', 'मणि का स्रष्टा' और 'मणि का रक्षक' समझता है (दे. 'मणिसर्प' शीर्षक कविता)। वह अपने को परिस्थिति के गमले को फोड़नेवाला अंकुर समझता है (दे. 'संगठन का अंकुर' शीर्षक कविता)। उसे विश्वास है कि कोई भी उसे किसी गमले में रोप नहीं पायेगा (दे., 'गली का सूर्यपुत्र' शीर्षक कविता)। वह 'राजपथ' का विरोधी है (दे., 'राजपथ की प्रतिध्वनियाँ')। वह किसी की, किसी प्रकार की दासता नहीं स्वीकार करना चाहता—

इस नग्न शीश पर मुकुट प्रतिष्ठा का
यदि कभी नहीं आया,
तो कारण है,
यह किसी शक्तिकुल के सिक्कों पर बिका नहीं।
इसकी अपनी मर्यादा है
इसकी अपनी लाचारी है
इसको सोने की वंशी से
बँसवट की टहनी प्यारी है।[5]

'भटका मेघ' संग्रह की कविताओं में एक बहुत खास बात जो मिलती

है और जिसे रेखांकित किया जाना चाहिए वह है परिवेश के प्रति लगाव। यह परिवेश भी एक खास किस्म का है—ग्राम्य परिवेश है, प्रकृति का परिवेश है। यह जितना ही आकर्षक है उतना ही ठोस और सच्चा। इसमें सब-कुछ है—नदी, पहाड़, घाट, टीला, खँडहर, लहर, चिड़िया, आकाश, उषा, बादल, गाँव, खेत, गुलाब, टेसू, वट, पीपल, सावन, पुरवाई, क्षिप्रा का तट, इन्द्रधनुष, आषाढ़ी सन्ध्या, फागुनी हवा, उदास लहर, झाड़ी-झुरमुट, बेल-काँटा, उजली-गोरी चाँदनी, सोने का साँप, नदी आदि। ग्राम्य प्रकृति के अनेक ताजे चित्र इस संग्रह की कविताओं में मौजूद हैं—बाँसों का झुरमुट, तुलसी का चौरा, सरसों का खेत, महुए के फूल, आँगन की चिड़िया, पोखर का जल, मेड़ों पर बैठे पन्थी, गायों की खड़पड़, सूखी-दरकी धरती, मैली सन्ध्या, उजड़ी खपरैलें आदि। ग्रामीण शब्दावली का प्रचुर प्रयोग इन कविताओं में हुआ है—बँसवट, हाँक, कोस, पाहुन, नदिया, संझा, तलैया, रोपना, बाट, कुँइया, गुँइया, डाँगर आदि। मामूली जीवन के कुछ चित्र तो अत्यन्त दुर्लभ हैं—

चूल्हे की राख-से
सपने सब शेष हुए।
बच्चों की सिसकियाँ
भीतों पर चढ़ती
छिपकलियों-सी बिछल गयीं।
बाजारों के सौदे जैसे
जीवन के क्षण
तुमसे स्वेद-मुद्रा ले
तौल दिये समय ने।
बासी सब्जियों से
बासी ये क्षण!![6]

ग्राम्य प्रकृति की इस आकर्षक दुनिया से कवि को लगाव है। वह इसे छोड़ना नहीं चाहता। यह कवि-मन ही है जो कहीं मेघ के रूप में सूखी धरती का मस्तक चूमना चाहता है (दे., 'भटका मेघ' शीर्षक कविता) और कहीं चिड़िया के रूप में शाख-टहनियों से लिपटे रहना चाहता है (दे., 'दो चिड़ियों का गान' शीर्षक कविता)। पश्चिम की आँधी उसे झकझोरकर उड़ाना चाहती है पर वह अपनी जड़ों से रिश्ता नहीं तोड़ना चाहता—

पीली गर्द भरी
पश्चिम से आँधी आती,
मँडलाती कुछ आशंकाएँ;
तब हम किसी अन्य घाटी में जायें
ऐसा मन कहता है।

लेकिन फिर यह नदी, पेड़
यह क्षितिज
और ये शाख-टहनियाँ हमें बुलातीं।
आह! इन्हें हम कैसे छोड़ें।
माना हम चिड़ियाँ हैं, लेकिन
जड़ वाली हैं।[7]

'भटका मेघ' संग्रह के बाद के संग्रहों में भी कहीं-कहीं ग्राम्य प्रकृति के साथ कवि का लगाव देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'मायादर्पण' संग्रह की एक कविता है 'घर-धाम'। इस कविता में कवि जीवन की भयावहता से, अर्थहीनता से ऊबकर लौट जाना चाहता है अपने घर। अपनों के बीच। अपने आत्मीय परिवेश में। जंगलों-पहाड़ों में खो जाना चाहता है। महुए के वन में एक कण्डे-सा सुलगना, गुँगुवाना, धुँधुवाना चाहता है। विवाह करना चाहता है और अपनी पत्नी की गोद भरना चाहता है।[8] मगर परवर्ती संग्रहों में कवि की यह मनःस्थिति मुख्य नहीं है। मुख्य है आज की उस अमानवीयता और भयावहता का बयान जिसके बीच वह जी रहा है। यहाँ उल्लेखनीय है कि 'भटका मेघ' संग्रह में जो आत्मीयता, कोमलता, लोक सम्पृक्ति और एक खास हद तक रूमानी अन्दाज दिखायी पड़ता है, वह परवर्ती संग्रह की कविताओं में नहीं है। पहले संग्रह में जो ग्राम्य और कस्बाई परिवेश था वह 'मायादर्पण' तक पहुँचते-पहुँचते महानगरीय हो गया है—अत्यन्त जटिल, व्यापक, क्रूर और निर्मम। 'जलसाघर' तक पहुँचकर कवि का यह संसार और भी विस्तृत हो जाता है, जिसमें पूरा ग्लोब घूमने लगता है—वियतनाम, चेकोस्लोवाकिया, क्रेमलिन, अमेरिका, चीन, हिरोशिमा, पेरिस, यूनान, ढाका, बीयफ्रा, खैबर, समरकन्द आदि। लेनिन, स्तालिन, बेरिया, लिंकन, गोएबल्स, कन्फ्यूशश, क्लाडइथरली, गोडसे, अशोक आदि कितने नामी-बदनामी इतिहासपुरुष उसकी कविता में अभिनय करने लगते हैं। पूरा इतिहास और भूगोल जैसे संगठित होकर पाठक के मन में उथल-पुथल शुरू करते हैं। यहाँ प्रसंगवश श्रीकान्त के समकालीन कवि रघुवीर सहाय के काव्य-संसार का उल्लेख अनुपयुक्त नहीं होगा। रघुवीर सहाय के काव्य-संसार का सन्दर्भ पूरी तरह भारतीय है। वह भारतीय राजनीति का और भारतीय मामूली आदमी का संसार है। उसमें नेता है, अफसर है, पूंजीपति है, रामलाल है, मैकू है। उसमें एक घरेलू आत्मीयता और सरलता है। उसकी तुलना में श्रीकान्त का काव्य-संसार एक महानगरीय आभिजात्य लिये हुए है। उसका अन्तहीन विस्तार एक दूसरे स्तर पर कवि की महत्त्वाकांक्षा को व्यक्त करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीकान्त की कविता में वर्तमान का बोध बहुत तीव्र है। आज का परिवेश, उसकी भयावहता, आतंक, अन्याय,

शोषण, अजनबियत, उदासी तथा आज की राजनीति और उसकी त्रासदी अपने नंगे रूप में उनकी कविताओं में मौजूद है। 'मायादर्पण' और विशेष-रूप से 'जलसाघर' की कविताएँ सचमुच बीसवीं सदी की अमानवीय बर्बरता का बयान करती हैं। इन कविताओं में एक मध्ववर्गीय व्यक्ति का सारा चरित्र उजागर है। मोहभंग है, गुस्सा है, विद्रोह है, घृणा है, क्षोभ है, छटपटाहट है तथा साथ ही निर्मम प्रहार भी। सारे संसार की सड़क पर दो टूक कवि पेशाब करता है, थूकता हुआ चला जाता है।[9] वह राजनीति, धर्म, नैतिकता, जनतन्त्र, समाजवाद, सबका मखौल उड़ाता है। सब पर व्यंग्य करता है—

चेचक और हैजे से
मरती हैं
बस्तियाँ
कैंसर से
हस्तियाँ
वकील
रक्तचाप से
कोई नहीं
मरता
अपने पाप से।[10]

अधिकांश कविताओं में कवि का रुख आक्रामक है। वह आज के बुद्धिजीवी पर और अपने पर भी निर्ममता से व्यंग्य करता है। वह जानता है कि वह क्या है और क्या कर सकता है। उसे अपने और अपनी कविता के बारे में कोई भ्रम नहीं है। वह अपनी टाँगों पर टँगा हुआ गट्ठर मात्र है।[11]—

सब जयकार कर रहे थे, वह भी जयकार
कर रहा था। सब जिस तरह डर रहे थे
वह भी डर रहा था। सब जैसे बोलते थे,
वह भी बोल रहा था। सब जैसे हैरत में
पूछ रहे थे, वह भी पूछ रहा था।[12]

दूसरे के दुख को अपना बनाने की कोशिश उसने बहुत की, पर नहीं हुआ। उसने कोई फासला तय नहीं किया, केवल अपने को क्षय किया।[13] वह बो रहा है अपनी मृत्यु एक-एक कविता में।[14] वह टकटकी लगाये देख रहा है कैसे गिरती है इमारत धरती के कँपने से।[15] क्योंकि—

सम्भव नहीं है
कविता में वह सब कह पाना
जो घटा है

बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ !
काँपते हैं हाथ !

ऊपर की पंक्तियों का यह अर्थ नहीं कि श्रीकान्त वर्मा कविता की अक्षमता या कविकर्म की निस्सारता में विश्वास करते हैं। क्योंकि ऐसा होता तो वे लिखते ही नहीं। मगर इन पंक्तियों का यह अर्थ जरूर है कि बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ बहुत कुछ भयानक घटित हुआ है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए कवि से अतिरिक्त सामर्थ्य चाहता है। अपनी एक कविता में कवि ने स्वयं लिखा है—'लिखने का मतलब है नरक से गुजरना'।[16] कहना न होगा कि 'जलसाघर' की कविताओं में श्रीकान्त वर्मा ने बीसवीं शताब्दी के हारर का चित्रण करने की कोशिश की है। इस पूरे संग्रह पर युद्ध की खौफनाक छाया मँडराती रहती है। अनेक कविताओं में इतिहास के प्रसिद्ध युद्ध-नायक किसी-न-किसी रूप में आते हैं। युद्ध और शान्ति, अन्याय और न्याय, बर्बरता और जिजीविषा का द्वन्द्व पूरे संग्रह में व्याप्त है। कहीं बगल में गोली दनाक से गुजर जाती है, कहीं चूतड़ पर बेंत पड़ती है, कहीं घोड़े हिनहिनाते हैं, कहीं घुड़सवार रौंदते हैं, कहीं हत्यारे मूंछों पर ताव देते हैं, कहीं बम फूटता है, कहीं पीठ पर चाबुक गिरती है सपाऽक। यह आकस्मिक नहीं है कि 'जलसाघर' की कविताओं में 'घोड़े' बार-बार आते हैं और इतिहास-प्रसिद्ध बर्बर विजेताओं का नाम लगातार गूंजता रहता है। पूरा संग्रह हत्या, लूटपाट और बलात्कार से भरा हुआ है—

छीन-झपट, दमन, युद्ध, चूसकर
मारी गयी जनता के
रक्त को
बर्बर उधर देखो वह चला जा रहा
है।[17]

× ×

मोहनजोदड़ो से अब तक का
सिलसिला है।
युद्ध की अटूट एक श्रृंखला है।

× ×

शान्ति याददाश्त के लिए
मोरपंख की तरह किताबों के बीच रखी हुई है,
युद्ध दस्तक दे रहा है,
पृथ्वी की एक-एक सड़क पर
भाग रहा है
मनुष्य
युद्ध पीछा कर रहा है।[18]

इस व्यापक युद्धोन्माद के बीच—

केवल अशोक लौट रहा है
और सब
कलिंग का पता पूछ रहे हैं
केवल अशोक सिर झुकाये हुए है
और सब
विजेता की तरह चल रहे हैं
केवल अशोक के कानों में चीख
गूँज रही है
और सब
हँसते-हँसते दोहरे हो रहे हैं
केवल अशोक ने शस्त्र रख दिये हैं
केवल अशोक
लड़ रहा था।[19]

'अशोक' इस पूरे जलसाघर का वह आदमी है जो अकेला है। जो सिर झुकाये लौट रहा है। जिसके कानों में चीख गूँज रही है, जिसने शस्त्र रख दिये हैं। जो इस पूरे जलसाघर में अकेला लड़ रहा था। 'था' नहीं, 'है'। 'मायादर्पण' और 'जलसाघर' की कविताओं पर गौर किया जाय तो 'अशोक' अर्थात् इस अकेले आदमी की उपस्थिति बराबर महसूस होती रहती है। इस आदमी को आप मामूली आदमी मान लें, एक उपेक्षित बुद्धिजीवी मान लें या स्वयं कवि मान लें। यही है वह जो यातनाएँ झेलता है। जो सारे छीन-झपट, लूट-खसोट, अन्याय-अत्याचार, दमन-शोषण और हत्या-फरेब का गवाह है। जो बेचैन है अपने दिन के लिए, अपनी रातों के लिए—

मैं इन दिनों और रातों का
क्या करूँ ?
मैं अपने दिनों और रातों का
क्या करूँ ?[20]

× ×

मैं क्या करूँ ? क्या जीने की कोशिश में
किसी और दुनिया में
जा मरूँ ?[21]

यही है वह आदमी जो इजलास के सामने हलफनामा उठाने को तैयार है पर जिसके लिए न्यायालय बन्द हो चुके हैं—

किसको दूँ अपना बयान ? हलफनामा
उठाऊँ

किसके सामने ? कोई है ? या केवल
बियाबान है ?[22]

× ×

न्यायालय वन्द हो चुके हैं, अर्जियाँ हवा में
उड़ रही हैं,
कोई अपील नहीं,
कोई कानून नहीं,
कुहरे में डूब गयी है प्रत्याशाएँ,
धूल में पड़े हैं
कुछ शब्द ।[23]

श्रीकान्त की कविता में यह आदमी बहुत अर्थवान और महत्त्वपूर्ण है । बल्कि यों कहें कि इसको निकाल देने पर उनकी कविता शब्दों का खिलवाड़ मात्र रह जाती है । यह आदमी उनकी कविता में विविध रूपों में आता है पर हमेशा झेलता वही है, दबाया वही जाता है । यहाँ उल्लेखनीय है कि श्रीकान्त की कविता में 'कराह', 'विलाप', सन्ताप' 'चीख' जैसे शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है । 'मायादर्पण' और 'जलसाघर' में तो खासतौर से मारे जाने, लूटे जाने और चीखने का बयान बहुत हुआ है । स्वयं कवि ने लिखा है :

मेरी कविता में
सन्ताप है
शोक है ।[24]

यही विशेषता श्रीकान्त वर्मा की कविता को सार्थक और समर्थ बनाती है । उनकी कविताओं के बीच-बीचे में ऐसी अनेक पंक्तियाँ आती हैं जिनकी करुणा पाठक के मर्म का स्पर्श करती है । किसी की पीठ पर चाबुक पड़ती है । वह कराहता है । लेनिन के पुतले के सामने कोई मारा जाता है । बीएफ्रा कविता के बीच चीख की तरह अटका हुआ है । बीसवीं शताब्दी का सिर चेकोस्लोवाकिया में गिरता है । नीग्रो पिट रहा है अफ्रीका में । गरज यह कि श्रीकान्त की कविता में करुणा के ऐसे अनेक चित्र आते हैं जो उनके भयानक और नारकीय लगनेवाले काव्य-संसार को मानवीय सन्दर्भ देते हैं और पाठक की संवेदना का विस्तार करते हैं । नीचे के कुछ चित्रों में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं—

मैं अपनी मार खायी हुई
पीठ
सेंक सकता हूँ
धूप में
बेटियाँ और बहुएँ

सूप में
अपनी-अपनी
आयु के
दाने
विन
रही
हैं।[25]

×　　　　　×

एक-एक चौरस्ते पर
तोड़ता हूँ
दम···
सूखे हुए नल के नीचे
　　जैसे
　　　कुत्ता।[26]

×　　　　　×

निकलकर अकेले में, गीदड़ की तरह
मुँह उठाये हुए
रोता है
पृथ्वी का
दुख—[27]

×　　　　　×

चीखती है पद्मा
　　छलाँग मार
　　भागती है
जंगल के पार से
　　हरप्रसन्न माझी का
रक्त
जो रोज सुवह
　　धोता था मुँह
पद्मा नदी के
　　अन्धकार से।[28]

×　　　　　×

घर, प्रेम, माँ-बाप, कविताएँ, एक-एक कर छूटते हैं
सब,
दाँव पर लगा हूँ खुद मैं,
दौड़ रहा हूँ हरेक इच्छा के बिल्कुल करीव से

फेंकता हुआ

अपने जवड़ों से फेन ।[29]

श्रीकान्त वर्मा के काव्य की इस विशेषता को लक्ष्य कर अशोक वाजपेयी ने ठीक लिखा है, "अगर यह धारणा बन गयी हो कि श्रीकान्त वर्मा सिर्फ नरक और दहशत और व्यंग्य के कवि भर हैं, तो उसे सुधारना अब जरूरी है।"[30]

टेकनीक को ध्यान में रखकर देखें तो श्रीकान्त वर्मा की कविता अपनी अलग विशिष्टता लिये हुए है। हर समर्थ कवि अपना एक अलग टेकनीक विकसित करता है और श्रीकान्त वर्मा ने भी ऐसा किया है। कविता साहित्य की वह विधा है जिसमें कम-से-कम शब्द खर्च किये जाते हैं और अधिक-से-अधिक संकेतों से काम लिया जाता है। श्रीकान्त शब्दों का कम-से-कम प्रयोग करते हैं। सहायक क्रियाओं का प्रायः नहीं के बराबर। उनके वाक्य भागते हुए-से लगते हैं। एक शब्द से दूसरा शब्द निकलता है, एक वाक्य से दूसरा वाक्य और एक चित्र से दूसरा चित्र। जैसे कवि आज की वास्तविकता का जल्दी-से-जल्दी बयान कर जाना चाहता हो। दुनियाभर की वास्तविकताएँ एक-दूसरे में गड्डमड्ड हो जाती हैं। कभी-कभी स्वप्न-संसार जैसा प्रतीत होने लगता है जिसमें बहुत सारे असम्बद्ध चित्र अचानक जुड़ने लगते हैं। शायद इसके द्वारा कवि अपने चारों ओर की अव्यवस्था को व्यक्त करना चाहता है। पर ये सब असम्बद्ध चित्र गहराई में कहीं एक-दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। कभी-कभी तो एक कविता कई अलग-अलग कविताओं की माला बनकर कवि-प्रलाप मालूम होती है। दरअसल श्रीकान्त की कविता में एक चित्र पूरी एक कविता का काम कर जाता है। यह चित्रात्मकता उनकी कविता की एक प्रमुख विशेषता है। वे देखे हुए चित्रों को कभी व्यंग्यपूर्ण, कभी विडम्बनापूर्ण और कभी नाटकीय बनाकर रखते चलते हैं। कभी ज्यों-का-त्यों। 'मायादर्पण' की 'दिनचर्या' और 'दिनारम्भ' आदि कविताएँ इस दृष्टि से पढ़ी जा सकती हैं। श्रीकान्त वर्मा अपनी कविता में बातचीत और सम्बोधन का लहजा पकड़ते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है कि कवि एक निश्चित ऊँचाई पर खड़ा होकर अपने से छोटों को सम्बोधित कर रहा है। प्रायः वह शब्दों के साथ खिलवाड़ भी करने लगता है। कहीं-कहीं तो यह खिलवाड़ बड़ा ही अर्थवान हो जाता है, जैसे निम्नलिखित पंक्तियों में—

गरीब से गरीबन, नसीबन नसीब से, बनता है, कहता है
व्याकरण

तोड़ो मत नियम को

कुछ भी नहीं रहेगा।[31]

पर कहीं-कहीं यह खिलवाड़ सचमुच वाहियात लगने लगता है। इसी प्रकार

श्रीकान्त के तुक भी कहीं-कहीं उन्हें कमजोर कवि के रूप में सामने लाते हैं। छोटी कविताओं के लिए तो तुक और भी घातक है। 'भटका मेघ' संग्रह में छोटी कविताएँ बहुत कम हैं। 'भटका मेघ' में तुकबाजी भी नहीं के बराबर है। पर परवर्ती संग्रहों में तुकबाजी भी बहुत है और छोटी कविताएँ भी बहुत हैं। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि श्रीकान्त वर्मा की छोटी कविताओं में कहीं-कहीं जो ऐन्द्रिकता और चित्रात्मकता मिलती है वह उनके पाठकों को राहत देती है, ऐसे पाठकों को जो उनकी लम्बी कविताओं के आतंक और नरक से गुजर रहे होते हैं।

श्रीकान्त के परवर्ती संग्रहों में एक और वैचित्र्य नजर आता है और वह है कुछ कविताओं की छपाई का वैचित्र्य। 'मायादर्पण' की 'जून', 'सूचना', 'दो टूक रास्ता' आदि तथा 'जलसाघर' की कुछ कविताएँ इस ढंग से लिखी और छापी गयी हैं जैसे पन्ने पर शब्द-शब्द बिखेर दिया गया हो। इस प्रकार शब्दों को बिखेरने की कौन-सी विवशता आ पड़ी और इससे कवि कौन-सा असर पैदा करना चाहता है, यह समझ में नहीं आता। दर-असल श्रीकान्त वर्मा को टेकनीक के चमत्कार से बचने की और अपने ही रेटारिक को निरन्तर तोड़ने की जरूरत है। वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि के लिए जो भीतरी बेचैनी, तनाव और बाहरी लगाव जरूरी होता है वह श्रीकान्त की कविता में बरकरार है—'भटका मेघ' से अब तक।

सन्दर्भ

1. भटका मेघ, पृ. 3 (भटका मेघ)
2. वही, पृ. 3
3. वही, पृ. 55 (बूढ़ा पुल)
4. वही, पृ. 19 (आस्था)
5. वही, पृ. 34 (मुकुटहीन)
6. वही, पृ. 9 (सूर्य के लिए)
7. वही, पृ. 50 (दो चिड़ियों का गान)
8. मायादर्पण, पृ. 14
9. वही, पृ. 113, 116 (दो टूक रास्ता)
10. वही, पृ. 124 (बुखार में कविता)
11. वही, पृ. 12 (एक दिन)
12 जलसाघर, पृ. 79 (प्रक्रिया)
13. मायादर्पण, पृ. 103 (समाधि लेख)
14. वही, पृ. 52 (वापसी)
15. वही, पृ. 125 (अन्तिम वक्तव्य)
16. जलसाघर, पृ. 16 (आध घण्टे की बहस)
17. वही, पृ. 26 (परिगणित)

18. जलसाघर, पृ. 71 (युद्धनायक)
19. वही, पृ. 104 (कलिंग)
20. मायादर्पण, पृ. 3 (मायादर्पण)
21. वही, पृ. 13 (एक दिन)
22. जलसाघर, पृ. 18 (आध घण्टे की बहस)
23. वही, पृ. 78 (प्रजापति)
24. मायादर्पण, पृ. 108 (शोक)
25. वही, पृ. 5 (मायादर्पण)
26. जलसाघर, पृ. 54 (ग्रेंड ट्रंक रोड)
27. वही, पृ. 55 (वर्षफल)
28. वही, पृ. 65 (ढाका बेतार केन्द्र)
29. वही, पृ. 46 (विजेता)
30. फिलहाल, पृ. 111
31. जलसाघर, पृ. 20 (आध घण्टे की बहस)

एक भटकते कवि का मुक्तिप्रसंग

अपने एक यात्रा-संस्मरण में फ्रांसीसी साहित्य के बारे में टिप्पणी करते हुए श्रीकान्त वर्मा लिखते हैं, "स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता पिछले सौ वर्षों के फ्रांसीसी साहित्य के मुख्य सरोकार रहे हैं।"[1] कहना न होगा कि स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता—ये तीनों ही सरोकार राजकमल की कविता के भी हैं। अपने एक वक्तव्य में वह कहता है, "शहर में जंगल, जंगल में औरत और औरत में मृत्यु और मृत्यु में मुक्ति तलाश करता हुआ—यह आदमी और यह लेखक—राजकमल चौधरी पशुता और देवत्व के समस्त वरदानों और अत्याचारों के दौर से गुजर रहा है।" यह रेखांकित करने की बात है कि राजकमल की कविता में स्त्री, मृत्यु और मुक्ति जिस नंगे रूप में आती है उस रूप में शायद अन्य किसी आधुनिक कवि की कविता में नहीं। उसका सारा काव्य-संसार इन्हीं की छायाओं, रतियों और दहशतों से भरा पड़ा है।

राजकमल की शायद ही कोई रचना हो जिसमें किसी-न-किसी रूप में स्त्री न आती हो। उग्रतारा, कंकावती, मंजू हालदार, अलकनन्दा, पिआरी बाई, मत्स्यगन्धा जाने कितने सच्चे-झूठे नाम। काली-गोरी स्त्रियाँ। नंगी बदचलन स्त्रियाँ। मांसल-रुग्ण स्त्रियाँ। कारबारी स्त्रियाँ, वेश्याएँ। उनके शरीर के विविध अंग। स्वेटर के नीचे समतल स्तन। कठोर-झूलते स्तन। खुली जाँघें। गर्भकुण्ड, गर्भविवर, मासिक धर्म, लिंग, योनि, मैथुन, सम्भोग, सिफलिस आदि शब्दावली। 'कंकावती' राजकमल की सेक्स-प्रयोगशाला है। वह लिखता है, "कंका से विवेकहीन घृणा, आसक्ति, हिंसा, सम्भोग, ईर्ष्या, क्षमा, विरति, आक्रमण, पशुत्व, सम्भोग करते हुए मैंने प्रतिक्षण अपने अहं और अपने अस्तित्व को प्रमाणित किया है।···मैंने अपनी कंकावती के साथ रति-पीड़ा, वंचना, प्रभुता और पशुता के जटिलतम प्रयोग किये हैं।"[2] यह राजकमल का सेक्स-संसार है। यह सामाजिक-नैतिक मर्यादा के संसार का उलटा संसार है। श्लीलता-अश्लीलता जैसे सवाल

राजकमल की कविता में उठते ही नहीं। उसके लिए सबकुछ श्लील है या फिर सबकुछ अश्लील। वह एक वर्जनामुक्त दुनिया का खाका खींचता है। 'ईमानदारी' शब्द का इस्तेमाल नहीं करूँगा पर यदि 'साहस' को काव्य के मूल्यांकन की कसौटी माना जाय (जिसे आज के आलोचकों ने माना भी है) तो राजकमल की कविता सबसे ज्यादा खरी उतरेगी। वह जो भी देखता है लिख सकता है। जो भी करता है, लिख सकता है। हमारे सभ्य समाज के बड़े लोग जो करते हैं उसे स्वीकार नहीं करते। वे भी शराब पीते हैं, वेश्यालयों में जाते हैं, पर वे इसे छिपाकर करते हैं। "नेशनल लाइब्रेरी में किताबों की दीवार के पीछे छिपकर कोणार्क की ताजा मूर्तियाँ चूमते हैं। माइनस नाइन का चश्मा फर्श पर गिर जाता है···।"[3] अपने पाखण्डी समकालीन मित्रों के बारे में राजकमल लिखता है, "मैं अपने अनुभव और समकालीन लेखकों-कवियों से अपने सम्पर्क के कारण जानता हूँ कि नयी पीढ़ी किसी प्रकार के भी नैतिक उद्देश्य अथवा बुद्धि अथवा बोध से परिचालित नहीं हो रही है। यह परिचालित हो रही है अपने स्वार्थ, अपनी अस्तित्व रक्षा और अपनी लिप्साओं से।···मैं अपने कुछ लेखक दोस्तों को जानता हूँ जो कहीं से अनुवाद का कोई काम पाने के लिए या अपने राज्य की विधान परिषद् का सदस्य बनने के लिए या कागनक शराब की बोतलों के लिए, इनसे बड़े या इनसे छोटे शारीरिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए, बड़ी आसानी से अपना झण्डा, अपना जुलूस, अपने नारे और अपने चेहरे की नकाब बदल लेते हैं।"[4] राजकमल ने यह सब किया या नहीं, यह तो मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता पर इतना कह सकता हूँ कि उसने यह सब छिपाया नहीं और अपनी नैतिकता का कोई झूठा दावा भी नहीं किया—

> लिखने पढ़ने सोने गाँजा-अफीम-सिगरेट पीने मरने का अपना
> एकमात्र कमरा
> अन्दर से बन्द करके दोपहर दिन के पसीने पेशाब वीर्यपात
> मटमैले अँधेरे में लेटे हुए
> धुआँ क्रोध दुर्गन्धियाँ पीते रहने के सिवा
> जिसने कभी कोई बड़ा काम नहीं किया अपनी देह
> अथवा अपनी चेतना में
> इस उम्र तक
> जटिल हुए किन्तु कोई भी प्रतिमा बनाने के योग्य नहीं हुए
> उसके अनुभव
> नहीं निद्राएँ और नहीं पैशाची सम्भोग
> यातनाएं भी नहीं···[5]

राजकमल अपनी रचना को अपनी जिन्दगी से अलग नहीं मानता। अपनी कविता के विषय में लिखते हुए वह कहता है, "जहाँ तक

विश्वासों की प्रामाणिकता का प्रश्न है, मैं बेहद पुराना और पुराणपन्थी व्यक्ति हूँ। इसीलिए, अपनी कविता और अपना जीवन मेरे लिए अलग-अलग स्थितियाँ नहीं हैं।"[6] अपनी कहानियों के बारे में वह लिखता है, "अपनी वास्तविक जिन्दगी में मैं जो कुछ ढूंढ़ता हूँ, जिन चीजों को पाने के लिए, जिन मूल्यों को आत्मसात् करने के लिए, जिन रहस्यों को अपनी एक अलग व्याख्या देने के लिए प्रयत्न करता हूँ, उसी की प्रतिच्छवि मेरी कहानियाँ होती हैं।···मैं बीमार हूँ, तभी मेरी कहानियाँ एक बीमार आदमी की, और एक बीमार आदमी की लिखी हुई कहानियाँ हैं।"[7] धूमिल ने उसके बारे में सही लिखा है—

> उसके लिए हम इत्मीनान से कह सकते हैं कि वह
> एक ऐसा आदमी था जिसका मरना
> कविता से बाहर नहीं है[8]

जिसे हम व्यक्ति-चेतना कहते हैं वह राजकमल की कविता में बहुत ज्यादा है। न केवल व्यक्तियों और स्थानों के सही नाम वरन् भोगी हुई जिन्दगी के सही चित्र भी उसकी रचनाओं में ज्यों-के-त्यों आते हैं। जीवन और साहित्य की यह एकता एक स्तर पर रचनाकार को बड़ा बनाती है। राजकमल इसीलिए अपने समकालीनों में बड़ा हो जाता है। वह इसलिए और भी बड़ा हो जाता है क्योंकि एक सामान्य आदमी नहीं है। धूमिल के शब्दों में, "उसकी हर आदत दुनिया के व्याकरण के खिलाफ थी।"[9] वह उन लोगों में नहीं था जो समय और समाज के साथ-साथ चलते हैं—उसकी हर औपचारिकता का निर्वाह करते हुए। उसका जीवन अनुकरणीय न हो, पर आकर्षक वह है।

राजकमल की कविता में जितना स्त्री का आतंक है उतना ही मृत्यु का भी। रंगों में सबसे प्रिय रंग है उसके लिए नीला रंग। यह रंग बार-बार विविध रूपों में उसकी कविता में आता है—नील कन्या, नीली उग्रतारा, नीले आक्टोपस, नीले पत्ते, नीली नदी, नीले स्तूप, नीली दरारें, नीला चेहरा, नीली चिनगारियाँ, नीली पेंसिल आदि। नीला रंग मृत्यु का रंग है। इस रंग की बार-बार चर्चा करनेवाला व्यक्ति या तो मृत्यु को प्यार करता है या उससे आतंकित होता है। लगता है राजकमल दूसरी स्थिति में है। वह मृत्यु से इतना डरा हुआ है कि उसे चैलेंज करने लगता है। कहीं-कहीं उसके सामने घिघियाने भी लगता है। वह बार-बार 'काल' की चर्चा करता है। आपरेशन टेबुल की, अस्पताल की, अपने शव की चर्चा करता है। श्मशान की चर्चा करता है। नींद की, खामोशी की, चीख की, खून की चर्चा करता है। दवाइयों के नाम याद करता है—मर्फाइन, मास्कोलिन, सारीडन, इन्सुलिन, एनेस्थेसिया आदि। अपनी यातनाग्रस्त हालत का बयान करता है।

राजकमल की सबसे बड़ी आकांक्षा और सबसे बड़ी समस्या का नाम है—'मुक्ति'। यही उसकी कविता का 'धर्म' है। वह लिखता है—"कविता लिखने के लिए समाजबोध एवं शरीरबोध की जितनी आवश्यकता है, कविता के 'धर्म' (मैं 'मर्म' की बात नहीं कह रहा हूँ) को समझ लेना, उससे ज्यादा आवश्यक है। मुक्ति प्रयास ही कविता का धर्म है।"[10] सवाल यह है कि यह मुक्ति किससे? इस मुक्ति का स्वरूप क्या है? राजकमल लिखता है, "मैंने कविता को कविता-भंगिमाओं से नहीं, शरीर-सीमाओं से मुक्ति का प्रयास मान लिया। हमारे शरीर में संस्कार, समाज, अनुभव और भविष्य—इन सभी वस्तुओं की उपस्थिति है। इन सभी वस्तुओं से हम मुक्ति की प्रार्थना करते हैं। 'मुक्तिप्रसंग' अपनी दूसरी कविता-पुस्तक में कविता के लिए मैंने यही प्रार्थना उपलब्ध की। कविता मेरे व्यक्ति को अपनी शरीर-सीमाओं से मुक्त करती है। अथवा, इस मुक्ति में सहायक होती है।"[11] तात्पर्य यह है कि राजकमल शरीर-सीमाओं अर्थात्, संस्कार, समाज, अनुभव और भविष्य—इन सबसे मुक्त होना चाहता है। वह ईश्वर पर व्यंग्य करता है, समाज और भीड़ से, संगठन और संस्थाओं से, शासन-तन्त्र और लोकतन्त्र से अलग हो जाना चाहता है—

मेरे फेफड़ों के अन्दर मलत्याग की वैष्णवी मुद्रा में बैठा हुआ
नकाबपोश नकली ईश्वर
देखता रहा है लगातार ऊँघती आँखों से मेरी स्त्री का अवरुद्ध
गर्भविवर
कभी-कभी उसके झुर्रीदार बनमानुष पंजे
मेरा व्याकरण छूते हैं

× ×

आओ इस राजभवन में इस कारागृह में अतएव चिन्ताविमुक्त
हो जाँय
उतार डालें अपने चेहरे अपनी नकाब
अपना इतिहास-कवच अपना वर्तमान शिरस्त्राण
नग्न निश्शस्त्र हो जाँय ग्यारह बजकर उनसठ मिनट के सामने
अपनी मुट्ठियों में थामे हुए अपना व्याकरण

× ×

अपनी देह सीमाओं के विषय में ईश्वर के प्रति
एक ही प्रार्थना हो सकती है आधुनिक मनुष्य की व्यक्तिगत
प्रार्थना
अपनी मुक्ति के लिए—
संगठन और संस्थाओं के विरुद्ध हो जाना अर्थात् शासनतन्त्र
और सेनाओं के

विरुद्ध हो जाना अपनी इकाई बचाने के लिए एक ही प्रार्थना
वास्तविक जीवन में और कविता में

× ×

आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग हो जाना चाहिए
चले जाना चाहिए कस्साबों गाँजाखोर साधुओं
भिखमंगों अफीमची रण्डियों की काली और अन्धी दुनिया में
मसानों में

अधजली लाशें नोंचकर
खाते रहना श्रेयस्कर है जीवित पड़ोसियों को खा जाने से
हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है
इस धरती से आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की
साजिश में।[12]

जाहिर है राजकमल नागरिक समाज से भाग जाना चाहता है आदिम समाज की ओर, जंगल की ओर। वह अपनी रचनाओं में बार-बार 'जंगल' की, 'नींद' की चर्चा करता है। वह अपनी एक डायरी में लिखता है—"मुझे जंगल ज्यादा पसन्द है। कोई भी शहर— बनारस या कलकत्ता या सिमुलतला जैसा कोई कस्बा-शहर, हम लोगों को इस तरह मशीनी औपचारिकताओं और सामाजिक निस्पृहता से भर देता है, जिससे छुटकारा पाकर अपना स्वाधीन स्वेच्छात्मक जीवन बिताते रहना जनमत और समूह भावना के इस नकली प्रजातान्त्रिक समाश्रम में — नागरिक समाज में—सम्भव नहीं है।"[13] राजकमल क्यों भागना चाहता है इस नागरिक समाज से, संगठन और संस्थाओं से, शासनतन्त्र और लोकतन्त्र से ? बहुत स्पष्ट है कि वह जो स्वाधीन स्वेच्छात्मक जीवन बिताना चाहता है वह इनके बीच सम्भव नहीं है। इसीलिए वह बाह्य यथार्थ की, आज की विडम्बनापूर्ण स्थितियों की खुलकर भर्त्सना करता है। वह इस क्रूर विकृत दुनिया की कुटिल चालों का पर्दाफाश करता है। उसकी कविता में सारा संसार आ जाता है—वियतनाम, हिन्देशिया, कांगो, रोडेशिया, कोरिया, अल्जीरिया, पाकिस्तान, काहिरा, शक्ति-सम्मेलन, अणु आयुध नियन्त्रण, दुर्भिक्ष, ईश्वर, मृत्यु, तीर्थयात्रा, ताशकन्द-सम्मेलन, कवि, प्रकाशक, परिवारनियोजन, भीड़, जुलूस, लोकसभा, फाइलें, रजिस्टर, शान्तिप्रिय पुलिस, ऐतिहासिक मूर्तियाँ···। कहाँ तक गिनाऊँ, कभी-कभी उसकी कविता रिपोर्ताज-सी लगती है या फिर प्रलाप-सी। एक तरफ 'देह की राजनीति' है तो दूसरी तरफ 'नकली नकाबपोश ईश्वर'। तीसरी तरफ अवसरवादिता की राजनीति है जिसे शासन व्यवस्थाएँ संचालित कर रही हैं। हर ओर मुखौटे हैं, असंगतियाँ हैं, सड़े-गले मूल्य हैं। और इन सबके बीच राजकमल के लिए कुछ नहीं है—

क्यों नहीं है मेरे लिए कोई नाम कोई नदी कोई चिड़िया
कोई फूल कोई सिद्धान्त
कोई दरख्त कोई राजनीतिक दल कोई जंगल
कोई साँप कोई गाँव
कोई स्त्री कोई सड़क कोई संगीत कोई नशा कोई प्रेम
कोई घृणा
कोई घर कोई आँगन कोई छाँव
वापस लौट जाऊँ मैं जहाँ एक बार फिर से अपनी यात्रा
शुरू करने के लिए

× × ×

पराजय के तीस वर्षों में एकत्र की गयी धर्म सेक्स इतिहास
समाज-परिकल्पना ज्योतिष की किताबें डाक-टिकट
सिक्के सोवेनिर
मैं बड़े डाकघर के बहुत बड़े लेटरबाक्स में डाल आया
वापस आकर अपनी स्त्री से मैंने कहा पुलिस पत्रकार कवि-
मित्र पार्टी-कामरेड
कोई भी मिलने आये सूचित करना है—
सबके लिए सबके हित में अस्पताल चला गया है
राजकमल चौधरी।[14]

बाह्य संसार की कुरूपता को देखकर, सरकार और संस्थाओं की नृशंसता को देखकर इस संसार से भाग जाने की, इससे अलग हो जाने की बात तो समझ में आती है, पर इससे बिल्कुल मुक्त हो जाने की कल्पना समझ में नहीं आती। राजकमल इस बात को जानता है :

किन्तु भीड़ से विच्छिन्न असंपृक्त रहकर भी भीड़ से
मुक्त मैं हो नहीं पाता हूँ
मुक्त हो जाना कविता से पहले और मृत्यु से पहले
मुक्त हो जाना असम्भव है।[15]

इस असम्भव मुक्ति को सम्भव बनाने की कल्पना में राजकमल न केवल वर्तमान समाज के निष्कर्षों की उपेक्षा करता है बल्कि वेश्यालयों और मदिरालयों की ओर, आदिम जीवन और जंगलों की ओर भागता हुआ अपनी स्वाधीनता की घोषणाएँ करता है। उसके काव्य में एक तीखी सामाजिक-राजनीतिक चेतना है पर वह सारी चेतना यौन शब्दावली और मृत्यु के आतंक के बीच नष्ट हो गयी है। काश कि राजकमल यह समझ पाता कि मुक्ति इसी दुनिया में सम्भव है, इसी समाज और शरीर की सीमाओं में रहकर ही। तब राजकमल की कविता का स्वर और तेवर कुछ दूसरा होता। कम-से-कम उसमें यह पलायन और नकारात्मक दर्शन न

होता। इस पलायन और नकार का कारण राजकमल की कमजोरियाँ हैं—उसके अधूरे चिन्तन और असन्तुलित जीवन की कमजोरियाँ हैं। वह लिखता है, "आसक्तियाँ और रोग—ये दोनों वस्तुएँ आदमी को पराक्रमी और स्वाधीन करती हैं। मैं कंकावती के प्रति, और उसके व्यक्तित्व की खण्डित परिधि-रेखाओं के प्रति आसक्त था। कई रोग मुझे अन्य आसक्तियों से मिल गये। मैं पराक्रमी हुआ। मैंने निर्णय करने की स्वाधीनता प्राप्त की।"[16] "व्यक्तिगत निर्णय को मैं सामाजिक स्वीकृति देने की वकालत नहीं करूँगा। वकालत से कोई स्पष्ट लाभ नहीं है। जो भी न्याय, प्रणय, दया, शील, दण्ड और दासता मैं चाहता हूँ, वह केवल अपने लिए—अलकनन्दा दासगुप्ता या कंचनकुमार मुखोपाध्याय के लिए नहीं, —मैं एक बार मर जाऊँगा तो अतीत के खँडहरों में, किंवा भविष्य की गजदन्ती मीनारों में जिन्दा रहना नहीं चाहूँगा। व्यक्ति या परिस्थिति की मृत्यु के बाद कुछ बच नहीं जाता है मेरे लिए—जिसकी प्रतीक्षा की जाय।"[17] कहना न होगा कि यह राजकमल का नितान्त व्यक्तिगत निष्कर्ष है। यह एक ऐसे व्यक्ति का निष्कर्ष है जो वर्तमान के आगे और मृत्यु के आगे कोई सत्ता नहीं स्वीकार करता। वह जानता है कि उसकी मृत्यु के बाद कुछ नहीं बचेगा इसलिए वह वर्तमान में ही सब कुछ भोगना चाहता है और इस रास्ते की सारी बाधक शक्तियों को नकारता जाता है। बात यही होती तो भी साफ थी पर राजकमल अपने उपर्युक्त निष्कर्षों पर भी दृढ़ नहीं है। उसके मन में जीवन, मृत्यु, वर्तमान, भविष्य को लेकर अन्य दार्शनिक उलझनें हैं। अपने एक पत्र में वह लिखता है, "वैसे, बहुत मानसिक उलझनों और दार्शनिक विक्षिप्तताओं में पड़ गया हूँ। मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? सौन्दर्यबोध की भावना का मूल स्रोत कहाँ है? भौतिकशास्त्र के सूत्रों में अन्तर्निहित महारूप के दर्शन कैसे कर सकूँगा, समझ में नहीं आता। गीता का निष्काम कर्मयोग अथवा मार्क्स का डायलेक्टिकल मेटेरियलिज्म कुछ सहायता नहीं कर पाते। योगवासिष्ठ बेकार लगता है। मेरी आत्मा की गार्गी के तर्कों का समीचीन उत्तर मेरे दिमाग का याज्ञवल्क्य नहीं दे पाता और मैं विकल हो जाता हूँ।"[18] कहना न होगा कि यह विकलता राजकमल की कविताओं में स्पष्ट देखी जा सकती है। उसकी कविता की पूरी संरचना एक बेचैन मनःस्थिति की संरचना है जिसमें शब्द भागते हैं, एक दूसरे से असम्बद्ध बिम्ब-प्रतीक साथ-साथ चलते हैं। यह विकलता उसके मन और चिन्तन की उलझन के कारण है। ऐसा लगता है जैसे एक ही समय में एक ही चीज पर वह विश्वास भी करता है और सन्देह भी। एक ही चीज को सही भी समझता है और गलत भी। वह मृत्यु से भयभीत भी है और उसे चुनौती भी देता है। वह शरीर की आसक्तियों में बुरी तरह जकड़ा भी है और शरीर की सीमाओं से

अपने को मुक्त भी समझता है। वह पलायन भी करता है और अपनी स्वाधीनता की घोषणा भी। वह संस्कारों से ग्रस्त भी है और उनकी धज्जियाँ भी उड़ाता है। यह उलझन उसकी कविता में स्पष्ट है। वह कोकशास्त्र और कामशास्त्र की नंगी शब्दावली का भी इस्तेमाल करता है और साथ ही पौराणिक मिथकों का भी बार-बार प्रयोग करता है। वह शून्य की, विराट की, तन्त्र की और साधना की चर्चा भी बीच-बीच में करता है। राजकमल की 'उग्रतारा' उसकी इन्हीं उलझनों में जकड़ी हुई है। उग्रतारा के प्रति उसके मन में कुलागत आस्था भी है और विद्रोह भी। वह उसकी माँ भी है और उसके साथ रमण भी करती है। वह राजकमल के लिए देवी भी है और एक अन्धी, पागल, काली प्यासी स्त्री भी। उसके सामने वह अपना दर्प भी प्रदर्शित करता है और उससे दया की भीख भी माँगता है। उग्रतारा राजकमल के मन की एक बहुत बड़ी उलझी ग्रन्थि है जिसका नाम लेने में उसे एक विशेष स्वाद मिलता है।

'मुक्ति प्रसंग' कविता की अन्तिम पंक्तियों को पढ़ते हुए स्पष्ट लगता है कि गति और अगति, अस्तित्व और अनस्तित्व, होने और न होने के बीच राजकमल एक अजीब स्थिति में है अपनी उग्रतारा के चरणों में। वह चारों ओर से निराश, टकराकर लौट आया है अन्तिम आत्मनिवेदन की तरह, अपने सम्पूर्ण दर्प और अपनी सम्पूर्ण पराजय के साथ—

अब तुम मेरी पूजा करो उग्रतारा मैं सोया हुआ वर्तमान हूँ
शिव हूँ
तुम्हारा सम्पूर्ण आत्मनिवेदन
स्वीकारने का एकमात्र मुझको रह गया है अधिकार
... ...
कविता से पहले और मृत्यु से पहले
तुम मेरी पृथ्वी हो और मैं तुम्हारा इष्टदेवता हूँ और कवि हूँ
तुम मुझे
जन्म देती हो और मेरे साथ रमण करती हो
तुम मुझे मुक्त करती हो
और मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ अपने मरण में
अपनी कविता में[19]

राजकमल ने लिखा है—

जीवनक ए हि समय-दाहक महावन में, कतेक युग सं
ताकि रहल छी—
कोनो अरूप देवता पर चढ़ाओल गेल किरणमाला
हम सभ अनिकेत, अपराजित;
एकटा हेरायल रस्ता

एकटा हेरायल स्वप्नक लाल उज्जर तारतम्य,
एकटा हेरायल मुख ककरो,
हम सभ अनिकेत, अपराजित कतेक युग सं ताकि रहल छी
जीवनक ए हि प्राण-पावक महावन में
किरणमाला
(जीवन के इस समय-दाहक महावन में, कितने युगों से
खोज रहा हूँ—
किसी अरूप देवता पर चढ़ायी गयी किरणमाला
हम सभी अनिकेत, अपराजित,
एक खोया हुआ रास्ता
एक खोये हुए स्वप्न का लाल-उजला तारतम्य,
एक खोया हुआ मुँह किसी का,
हम सभी अनिकेत, अपराजित कितने युगों से खोज रहे हैं
जीवन के इस प्राण-पावक महावन में
किरणमाला)।[20]

सचमुच राजकमल चौधरी जीवन-भर कुछ तलाशता रहा—खोजता रहा कविता में और कविता के बाहर। भटकता रहा 'किरणमाला' की तलाश में। मुक्ति के लिए छटपटाता रहा। मुक्ति उसे मिली या नहीं, कौन जाने (वह कवियों को नहीं, साधकों को मिलती है) पर उसकी कविता जरूर एक भटकते कवि का मुक्तिप्रसंग है।

सन्दर्भ

1. दिनमान, 21 अक्तूबर 73, पृ. 11
2. कंकावती, भूमिका
3. वही, पृ. 12
4. लहर, राजकमल मूल्यांकन अंक, पृ. 30
5. मुक्तिप्रसंग, पृ. 11
6. आमुख-4, पृ. 1
7. निवेदिता, जनवरी 67, पृ. 25-26
8. आमुख-4, पृ. 15
9. वही, पृ. 14
10. वही, पृ. 3
11. वही, पृ. 3
12. मुक्तिप्रसंग, पृ. 11, 17, 31-32
13. लहर, डायरी अंक, मार्च 1967, पृ. 75
14. मुक्तिप्रसंग, पृ. 23, 11

15. मुक्तिप्रसंग, पृ. 19
16 आमुख-4, पृ. 2
17. लहर, डायरी अंक, मार्च 1967, पृ. 76
18. लहर, राजकमल मुल्यांकन अंक, पृ. 28
19. मुक्तिप्रसंग, पृ. 28
20. लहर, राजकमल मूल्यांकन अंक, पृ. 149

राजनीति और विरोध की कविता

धूमिल (1936-1975 ई.) के जीवन-काल में प्रकाशित उनका एकमात्र कविता संकलन है—'संसद से सड़क तक' (1972 ई.)। इस संकलन में 'संसद से सड़क तक' शीर्षक कोई कविता नहीं है और न धूमिल ने इस शीर्षक से कोई कविता ही लिखी है। फिर भी उनके संकलन के लिए यह नाम अत्यन्त उपयुक्त और अर्थवान है। इस संकलन की लगभग सभी कविताएँ किसी-न-किसी स्तर पर संसद या सड़क से जुड़ी हुई हैं। 'संसद' अर्थात् भारतीय राजनीति और 'सड़क' अर्थात् भारतीय मामूली आदमी। धूमिल की कविता सच्चे अर्थों में सड़क और संसद अर्थात् जनता और जनतन्त्र की कविता है। उनकी कविता की सारी शब्दावली सामाजिक और राजनीतिक संसार की शब्दावली है। वे सही अर्थों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना के कवि हैं।

धूमिल की कविता में जिन शब्दों का सबसे अधिक इस्तेमाल हुआ है वे शब्द हैं--जनतन्त्र, संसद, जनता, आदमी, जंगल, व्याकरण, भाषा, कविता और जाँघ। इन शब्दों का बार-बार प्रयोग उनकी कविता की मानसिकता को प्रकट करता है। 'जनतन्त्र' और 'संसद' जैसे शब्दों का अधिक प्रयोग धूमिल की कविता की राजनीतिक चेतना और उसकी राजनीतिक जागरूकता को व्यक्त करता है। आजादी के बाद भारतीय जनतन्त्र से बुद्धिजीवियों ने जो आशाएँ लगा रखी थीं वे पूरी नहीं हुईं। देश के जन-नायक सत्ता और कुरसी के जोड़-तोड़ में डूबे रहे। फाइलों में योजनाएँ बनती रहीं। भाषण और भोज होते रहे। खोखले नारे लगाये जाते रहे। सरकारी अफसर अपने कृत्रिम आभिजात्य के नशे में मामूली आदमी की उपेक्षा करते रहे। पूंजीपति वर्ग अफसरों और नेताओं का संरक्षण प्राप्त कर शोषण करता रहा। और इन सबके कुचक्र में देश का मामूली आदमी पिसता रहा। इन कटुस्थितियों का बयान सन् साठ के बाद की हिन्दी कविताओं में बहुत हुआ है। धूमिल साठ के बाद उभरी पीढ़ी के एक महत्त्व-

पूर्ण कवि हैं और उनकी कविता भी भारतीय जनतन्त्र की इन स्थितियों का सीधा साक्षात्कार करती है। राजनीतिक ढोंग, छल, पाखण्ड और उसकी मानव-विरोधी हरकतों पर धूमिल की कविता कड़ा प्रहार करती है। आजादी, जनतन्त्र, संसद और समाजवाद पर व्यंग्य करते चलना धूमिल की कविता की एक खासियत है—

क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है ? —बीस साल बाद

दरअस्ल, अपने यहाँ जनतन्त्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है

× ×

मगर मैं जानता हूँ मेरे देश का समाजवाद
माल गोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर 'आग' लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।

× ×

अपने यहाँ संसद
तेल की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है —पटकथा

धूमिल अपनी कविता में हिन्दुस्तान का—समकालीन हिन्दुस्तान का एक असली चेहरा प्रस्तुत करना चाहते हैं। 'पटकथा' कविता में यह 'हिन्दुस्तान' अपने नंगे रूप में आता है—'जली हुई मिट्टी के ढेर' की तरह। कवि 'आजादी', 'वनमहोत्सव', 'शान्ति', 'आस्था', 'कानून', 'पंचशील' आदि शब्दों की निरर्थकता को उधेड़कर रख देना चाहता है। वह 'जनतन्त्र', 'त्याग', 'स्वतन्त्रता', 'संस्कृति', 'शान्ति', 'तटस्थता', 'मनुष्यता' आदि सुनहरे शब्दों के लिए उस 'लोकनायक' को दोषी पाता है "जिसके पास हर शंका और/ हर सवाल का/एक ही जवाब था/यानी कि कोट के बटन-होल में/महकता हुआ एक फूल/गुलाब का।" इसका कुपरिणाम देश को चीनी हमले के रूप में भोगना पड़ता है जबकि 'दुनिया का सबसे बड़ा बौद्ध मठ बारूद का सबसे बड़ा गोदाम' बन जाता है। अपने देश के नाम पर कवि को चारों तरफ धुआँ और कुहासा, कुआँ और खाई दिखायी पड़ती है। वह टूटे हुए पुलों के नीचे, वीरान सड़कों पर, टूटी हुई चीजों के ढेर में खोई हुई आजादी का अर्थ ढूंढ़ता है। चारों ओर फूहड़ इरादे दिखायी पड़ते हैं। हर

आदमी अपने धन्धे में लगा है अर्थात् 'सहानुभूति', 'प्यार', 'आत्मीयता', 'अहिंसा', 'ईमानदारी', विवेक' की आड़ में दूसरे को छल रहा है—

सिर्फ एक शोर है
जिसमें कानों के पर्दे फटे जा रहे हैं
शासन सुरक्षा रोजगार शिक्षा···
राष्ट्रधर्म देशहित हिंसा अहिंसा···
सैन्यशक्ति देशभक्ति आजादी वीसा···
वाद बिरादरी भूख भीख भाषा···
शान्ति क्रान्ति शीतयुद्ध एटम बम सीमा···
एकता सीढ़ियाँ साहित्यिक पीढ़ियाँ निराशा···
झाँय-झाँय, खाँय-खाँय, हाय-हाय, साँय-साँय···

× ×

मैंने देखा हर तरफ
रंग-बिरंगे झण्डे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट से गुट टकरा रहे हैं
वे एक दूसरे से दाँता किलकिल कर रहे हैं
एक दूसरे को दुर-दुर बिल-बिल कर रहे हैं —पटकथा

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में न केवल भारी-भरकम शब्दों का खोखलापन और दलगत राजनीति का निरर्थक आचरण देखने योग्य है बल्कि कवि का शब्द-प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है। नये कवियों में रघुवीर सहाय जिस प्रकार अपने विशिष्ट शब्द-प्रयोग से असंगति और व्यर्थता को बेनकाब करते हैं उसी प्रकार इन पंक्तियों में धूमिल भी करना चाहते हैं। यह दूसरी बात है कि धूमिल कहीं-कहीं संकेतों से अधिक शब्दों की तालिका गिनाने के फेर में पड़ जाते हैं। वैसे भी धूमिल की 'पटकथा' कविता में स्फीति और सरलीकरण अधिक है। कविता पर चालू मुहावरा हावी है। ऐसा लगता है इस कविता को लिखते हुए धूमिल की स्मृति में कहीं-न-कहीं मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' रही है। इस कविता में भी एक क्षत-विक्षत हिन्दुस्तान का चेहरा आता है—मुक्तिबोध के रहस्यमय पुरुष से मिलता-जुलता। इस कविता में भी स्वप्न और नींद की चर्चा आती है। इस कविता में भी वकील, वैज्ञानिक, अध्यापक, नेता, दार्शनिक, लेखक, कवि, कलाकार आते हैं। कविता का 'मैं' उन सबका दरवाजा खटखटाता है और पाता है कि यह सब "कानून की भाषा बोलता हुआ/अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।" तात्पर्य यह कि धूमिल इस कविता को एक बड़े कैनवस का रूप देना चाहते हैं पर इसके द्वारा अपना अपेक्षित प्रभाव छोड़ने में वे पूरी तरह सफल नहीं हो पाते। विस्तार के कारण कविता में अनुभव की सघनता

नहीं रह जाती। अनुभव भी एक खास किस्म का है अत: उसके विस्तार से दुहराव होता है। धूमिल अपनी चुस्त उक्तियों और सधे हुए तुकों से इस एकरसता को तोड़ने की कोशिशें करते हैं पर एक सीमा के आगे उनके यही तुक और उनकी यही उक्तियाँ एक खास अन्दाज में तब्दील हो जाती हैं। इनका बार-बार प्रयोग इन्हें बेअसर करता है।

'पटकथा' के अतिरिक्त धूमिल की अन्य कविताओं में भी समकालीन भारतीय राजनीति के साक्षात्कार की कोशिश मिलती है। पिछले दशक में कविता और राजनीति के सम्बन्धों को लेकर काफी बहसें हुई हैं और माना गया है कि आज की प्रतिबद्ध कविता अपने समय की राजनीति से सरोकार रखती है। इस सन्दर्भ में रघुवीर सहाय की कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो पिछले दशक की कविताओं में सबसे अधिक राजनीतिक समझ लिये हुए है। धूमिल की कविता भी अपने समय की राजनीति और उसके चरित्र को व्यक्त करने की कोशिश करती है। 'जलता-जनतन्त्र', 'गाँधी के तीन बन्दर', 'रोजगार दफ्तर', 'मेकमोहन रेखा', 'बजट का अँधेरा', 'विदेशी मुद्रा', 'नगर पिता', 'शहर कोतवाल', 'वित्तमन्त्री', 'विपक्षी नेता', 'वारण्ट के साथ आया अमीन', 'पंचवर्षीय योजनाएँ', 'अणुबम के मसौदे', 'लाल-हरी झण्डियाँ', 'नारे', 'फाइलें', 'मन्त्रियों की कुर्सियाँ', 'चुनाव के इश्तिहार', 'संविधान की धाराएँ' आदि प्रयोग उनके उद्देश्य को व्यक्त करते हैं। धूमिल उस मुहावरे को नंगा करना चाहते हैं जो आजादी और गाँधी के नाम पर चल रहा है। वे उस आदमी की नीयत को नंगा करना चाहते हैं जो पूरे समुदाय से अपना गिजा वसूल करता है। वह आदमी तीसरा आदमी है जो "न रोटी बेलता है/न रोटी खाता है/वह सिर्फ रोटी से खेलता है।" वह आदमी नेता है, अफसर है, पूंजीपति है। "वह निहाल-तोंदियल/कैसा मगन है/हुचुर-हुचुर हँस रहा है।"/"देश डूबता है तो डूबे/लोग ऊबते हैं तो ऊबें/जनता लट्टू हो/चाहे तटस्थ रहे/बहरहाल, वह सिर्फ यह चाहता है/कि उसका स्वस्तिक/स्वस्थ रहे।" वह निरन्तर लोगों को धोखा दिये जा रहा है। विज्ञापनों, नारों और खूबसूरत शब्दों की आड़ में शोषण किये जा रहा है। धूमिल की कविता उसके इस छल को पहचानती है इसीलिए वह आदर्श-वादी खूबसूरत शब्दों का पोस्टमार्टम करती चलती है—

स्नानघाट पर जाता हुआ हर रस्ता
देह की मण्डी से होकर गुजरता है

× ×

हर ईमान का एक चोर दरवाजा होता है
जो सण्डास के बगल में खुलता है

—सच्ची बात

धूमिल की कविता विरोध की कविता है। उनके अनुसार "इस वक्त सचाई को जानना/विरोध में होना है" और सचाई "इस समझदारी में है/कि

वित्तमन्त्री की ऐनक का/कौन-सा शीशा कितना मोटा है/और विपक्ष की बेंच पर बैठे हुए/नेता के भाइयों के नाम/सस्ते गल्ले की कितनी दुकानों का/कोटा है।"

धूमिल पूर्वी उत्तरप्रदेश के जिन गाँवों के रहनेवाले हैं, वहाँ की जनता के चरित्र को उन्होंने बड़ी गहराई से पहचाना है। यह वह जनता है जो अपनी जरूरतों के आगे असहाय है। "भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है/संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है" वह "एक भेड़ है/जो दूसरों की ठण्ढ के लिए/अपनी पीठ पर/ऊन की फसल ढो रही है/···गाँव के गन्दे पनालों से लेकर/शहर शिवालों तक फैली हुई/कथाकलि की एक अमूर्त मुद्रा है/यह जनता।" उसमें बेचैनी है, गुस्सा है, मगर वह सामने नहीं आती। जानते हुए भी असली हत्यारे का पता नहीं बताती। उसे जाम कर देने का पूरा इन्तजाम किया जा चुका है। वह किताबों में छपे पेड़ की तरह मौसम से बेखबर है। उसके भीतर की आग बाहर नहीं आती। दरअसल उसकी मानसिकता ही क्रान्ति की नहीं है—

> काले तख्ते पर सफेद खड़िया से
> मैं तुम्हारे लिए लिखता हूँ—'अ'
> और तुम्हारा मुख
> किसी अन्धी गुफा के द्वार की तरह
> खुल जाता है—'आऽऽ'! —प्रौढ़ शिक्षा
>
> × ×
>
> क्रान्ति—
> यहाँ के असंख्य लोगों के लिए
> किसी अबोध बच्चे के—
> हाथों की जूजी है। —अकाल-दर्शन

धूमिल अपनी कविता में इस ठण्ढी, निर्जीव जनता को सम्बोधित करते हैं। उसे तनने, अकड़ने और जड़ पकड़ने की सलाह देते हैं। उसे अपने आपको बदलने की सलाह देते हैं। उसे बाहर आने को—सड़क पर आने को कहते हैं। चीखने, लीक तोड़ने और साफ-साफ बोलने को कहते हैं। विश्वास की कमी को, भलमनसाहत को, शर्म को, सरलता को छोड़ने की सलाह देते हैं—

> अपनी आदतों में
> फूलों की जगह पत्थर भरो
> मासूमियत के हर तकाजे को
> ठोकर मार दो
> अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
> और अपनी ऊब को आकार दो। —पटकथा

इस जनता की शब्दावली उनकी भाषा में बहुत मिलती है। चूल्हे का कोयला, पतीली की दाल, बाल्टी, चौका, पाला लगी मटर, सोहर, मूत और गोबर, डाँय-डाँय करते डाँगर, चकती, टाँकना, नाघना, पोंकना, हुचुर-हुचुर, लिट्टी आदि शब्दावली इसी प्रकार की है। इस प्रकार की ग्रामीण शब्दावली और देहाती जिन्दगी के ठेठ चित्रों के लिए उनकी 'मोचीराम', 'प्रौढ़ शिक्षा', 'कवि 1970', 'किस्सा जनतन्त्र', 'गाँव' और 'नक्सलवाड़ी' शीर्षक कविताएँ पढ़ी जा सकती हैं। धूमिल की भाषा में ग्रामीण शब्दावली का इस्तेमाल चौंकाने के लिए नहीं हुआ है, न आंचलिक छौंक देने के लिए, बल्कि यही उनकी असली जमीन है। उन्हीं के शब्दों में—

सहना ही जीवन है जीवन का जीवन से द्वन्द्व है
मेरी हरियाली में मिट्टी की करुणा का छन्द है

—बारिश में भीगकर

मिट्टी की यह करुणा 'किस्सा जनतन्त्र' शीर्षक कविता में देखिए—

करछुल
बटलोई से बतियाती है और चिमटा
तवे से मचलता है
चूल्हा कुछ नहीं बोलता
चुपचाप जलता है और जलता रहता है
औरत
गवें-गवें उठती है—गगरी में
हाथ डालती है
फिर एक पोटली खोलती है
उसे कठवत में झाड़ती है
लेकिन कठवत का पेट भरता ही नहीं
पतरमुही
सरर फरर बोलती है और बोलती रहती है
बच्चे आँगन में
आँगड़-बाँगड़ खेलते हैं
घोड़ा-हाथी खेलते हैं
चोर-साव खेलते हैं
राजा-रानी खेलते हैं और खेलते रहते हैं
... ...
बड़कू को एक
छोटकू को आधा
परबत्ती-बालकिशुन आधे में आधा
कुल रोटी छै

और तभी मुहदुब्बर
दरबे में आता—'खाना तैयार है'?
उसके आगे थाली आती है
कुल रोटी तीन
खाने से पहले मुहदुब्बर
पेट भर पानी पीता और लजाता है
कुल रोटी तीन
पहले उसे थाली खाती है
फिर वह रोटी खाता है।

ऊपर कविता का जो लम्बा अंश उद्धृत किया गया है वह इसलिए कि धूमिल के शब्द-प्रयोगों पर गौर किया जा सके। गाँव उनके पूरे अस्तित्व में किस कदर घुला-मिला है। वे अपनी जमीन पर खड़े होकर अपनी जमीन को अपनी मिट्टी का शब्द देते हैं। उनकी कविता का तेवर एक देहाती कवि का वेलाग मुँहफट तेवर है। यह तेवर उनका अपना है। उनकी कविता एक खरी अभिव्यक्ति है। उसमें वे किसी को बख्शते नहीं। अपने को भी नहीं—

सड़कों में होता हूँ
बहसों में होता हूँ
रह रह कर चहकता हूं
लेकिन हर बार वापस घर लौटकर
कमरे के अपने एकान्त में
जूते से निकाले गये पाँव-सा महकता हूँ।

एक जगह रघुवीर सहाय की तरह धूमिल भी लिखते हैं—

छायावाद के कवि शब्दों को तौलकर रखते थे
प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोलकर रखते थे
नयी कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे
सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोलकर रखते हैं।

—कल सुनना मुझे

'शब्दों को खोलकर' अर्थात् पूरे साहस के साथ, बिना किसी लाग-लपेट के। धूमिल की कविता ऐसी ही कविता है।

धूमिल की कविता में 'जंगल' और 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है। 'जंगल' शब्द तो उनकी कविता में बार-बार आता है। यह शब्द कई सन्दर्भों में आया है। पर प्राय: यह अव्यवस्था का प्रतीक होकर भारतीय 'जनतन्त्र' की अराजकता का अर्थ देने लगता है। इस जंगल के साथ ही दलदल, भेड़िया तथा अन्य वनैले पशुओं का जिक्र भी धूमिल की कविता में आता है। ये सभी मिलकर उस अन्धी व्यवस्था का अर्थ देने लगते हैं जो सही आदमी को निगल जाती है। 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग अमूमन

व्यवस्था और अनुशासन के अर्थ में हुआ है। अपने जनतन्त्र की उच्छृंखलता, अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था कवि-मन को आतंकित किये हुए है और उसे वह अनुशासित तथा व्यवस्थित देखना चाहता है—

उन्होंने किसी चीज को
सही जगह नहीं रहने दिया है
न संज्ञा
न विशेषण
न सर्वनाम
एक समूचा और सही वाक्य
टूटकर बिखर गया है
उनका व्याकरण इस देश की
शिराओं में छिपे हुए कारकों का
हत्यारा है
—पटकथा

धूमिल की कविता में 'भाषा' और 'कविता' शब्द का इस्तेमाल भी बार-बार हुआ है। यह भाषा और कविता के प्रति उनकी सचेतता को प्रकट करता है। पिछले दिनों नक्सलवादी आन्दोलन के साथ ही साहित्य में यह नारा जोर से सुनायी पड़ने लगा कि 'साहित्य क्यों ?' इस सवाल में ध्वनि यह थी कि लेखन-कर्म निरर्थक है। वह सक्रिय कर्म से पलायन है, अत: व्यर्थ है। इस प्रकार का विचार रचना-कर्म की बुनियाद पर ही आघात करनेवाला था। जिम्मेदार रचनाकारों ने इस नास्तिक-नकारात्मक और आत्मघाती सवाल की चिन्ता नहीं की और अपनी सीमाएँ जानते हुए भी अपनी रचना की सार्थकता पर अविश्वास नहीं किया। धूमिल भी अपनी कविता की सीमाओं से वाकिफ हैं—

जब इससे न चोली बन सकती है
न चोंगा
तब आपै कहो इस ससुरी कविता को
जंगल से जनता तक ढोने से क्या होगा ?
आपै जवाब दो मैं इसका क्या करूँ
तितली के पंखों में पटाखा बाँधकर
भाषा के हलके में कौन-सा गुल खिला दूँ ?

वे जानते हैं उनकी मातृभाषा "उस महरी की तरह है, जो/महाजन के साथ रात भर/सोने के लिए/एक साड़ी पर राजी है।" वे जानते हैं कि उनका गुस्सा "जनमत की चढ़ी हुई नदी में/एक सड़ा हुआ काठ है।" वे जानते हैं कि उन्हें "अपनी कविताओं के लिए/दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है।" फिर भी उन्हें अपनी कविता की सार्थकता पर अविश्वास नहीं है। इस देश में जहाँ "अपने जाँगर का सुख तलाशना/अन्धी लड़की की आँखों में/उससे

सहवास का सुख तलाशना है" जहाँ "हर तरफ/शब्दबेधी सन्नाटा है," जहाँ "चन्द खेत/हथकड़ी पहने खड़े हैं।" सिर्फ कविता है जो विपक्ष में है। इसीलिए उनके अनुसार कविता—

घेराव में
किसी बौखलाये हुए आदमी का
संक्षिप्त एकालाप है —कविता

× ×

शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।

× ×

भाषा में
आदमी होने की तमीज है। —मुनासिब कार्रवाई

धूमिल की कविता और उसकी शब्दावली पर गौर करें तो सचमुच वह कहीं एकालाप लगती है। कहीं वार्तालाप। कहीं हलफनामा। कहीं वक्तव्य— एक जागरूक कवि का समकालीन जिन्दगी पर दिया गया एक सार्थक वक्तव्य। अपनी कविताओं के बीच कविता को परिभाषित करते चलना तथा 'भाषा' जैसे शब्द को बार-बार रेखांकित करना इस बात का सबूत है कि धूमिल अपनी भाषा और कविता के प्रति पूरी रचनात्मक जिम्मेदारी महसूस करते हैं—

शब्द किस तरह
कविता बनते हैं
इसे देखो
अक्षरों के बीच गिरे हुए
आदमी को पढ़ो
क्या तुमने सुना कि यह
लोहे की आवाज है
या मिट्टी में गिरे हुए खून
का रंग। —कल सुनना मुझे, पृ. 80

वे पेशेवर भाषा की असमर्थता को पहचानते हैं—

नहीं—अब वहाँ कोई अर्थ खोजना व्यर्थ है
पेशेवर भाषा के तस्कर-संकेतों
और बैलमुत्ती इबारतों में
अर्थ खोजना व्यर्थ है —कविता

वे जानते हैं कि कविता हत्या नहीं करती। वह "लाश के पास पाये गये हथियारों की/पड़ताल करती है।" वह "हक जैसे एक मामूली शब्द को/मोर्चे

पर बहाल करती है।" वह "शब्दों पर शान चढ़ाने का काम/शुरू करती है।" (शब्द जहाँ सक्रिय हैं)। कविता के प्रति धूमिल का एक विचारपूर्ण रवैया ही उन्हें ढेर सारे युवा कवियों से अलग करता है। उनके समकालीन युवा कवियों में जहाँ एक प्रकार की उत्तेजना है वहाँ धूमिल में बौद्धिक समझदारी है। उनकी कविता पर स्त्री का या सेक्स का आतंक नहीं है। उन्होंने 'जाँघें', 'योनि', या 'मासिकधर्म' जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है तो सेक्स के आकर्षण में नहीं बल्कि उस आकर्षण को तोड़ने के लिए—

मेरे पास उत्तेजित होने के लिए
कुछ भी नहीं है
न कोकशास्त्र की किताबें
न युद्ध की बात
न गद्देदार बिस्तर
न टाँगें, न रात
चाँदनी
कुछ भी नहीं —एकान्त कथा

उत्तेजनाओं से अलग धूमिल की कविता मनुष्य के केन्द्रीय प्रश्नों से जुड़ी हुई कविता है जिसमें रोटी और भूख, शहर और गाँव, जनतन्त्र और समाजवाद, संसद और सड़क प्रमुख हैं। यह प्रतिबद्ध, प्रगतिशील और संघर्षशील चेतना की कविता है। यह समकालीन वास्तविकताओं का साक्षात्कार करनेवाली कविता है। इसका संसार ठोस और जीवित प्रासंगिक संसार है। कहना न होगा कि यही उनकी कविता की शक्ति है। एक समय के आगे शायद यही उनकी कमजोरी भी मानी जाय, अपनी तात्कालिकता के कारण। तुकों का मोह, सूक्तियों का बेहद प्रयोग और बयानबाजी उनकी कविता की दूसरी सीमाएँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। धूमिल को लम्बी जिन्दगी नसीब न हुई। सम्भव है आगे वे अपनी इन रचना-सीमाओं को तोड़ने की कोशिशें करते।

०००
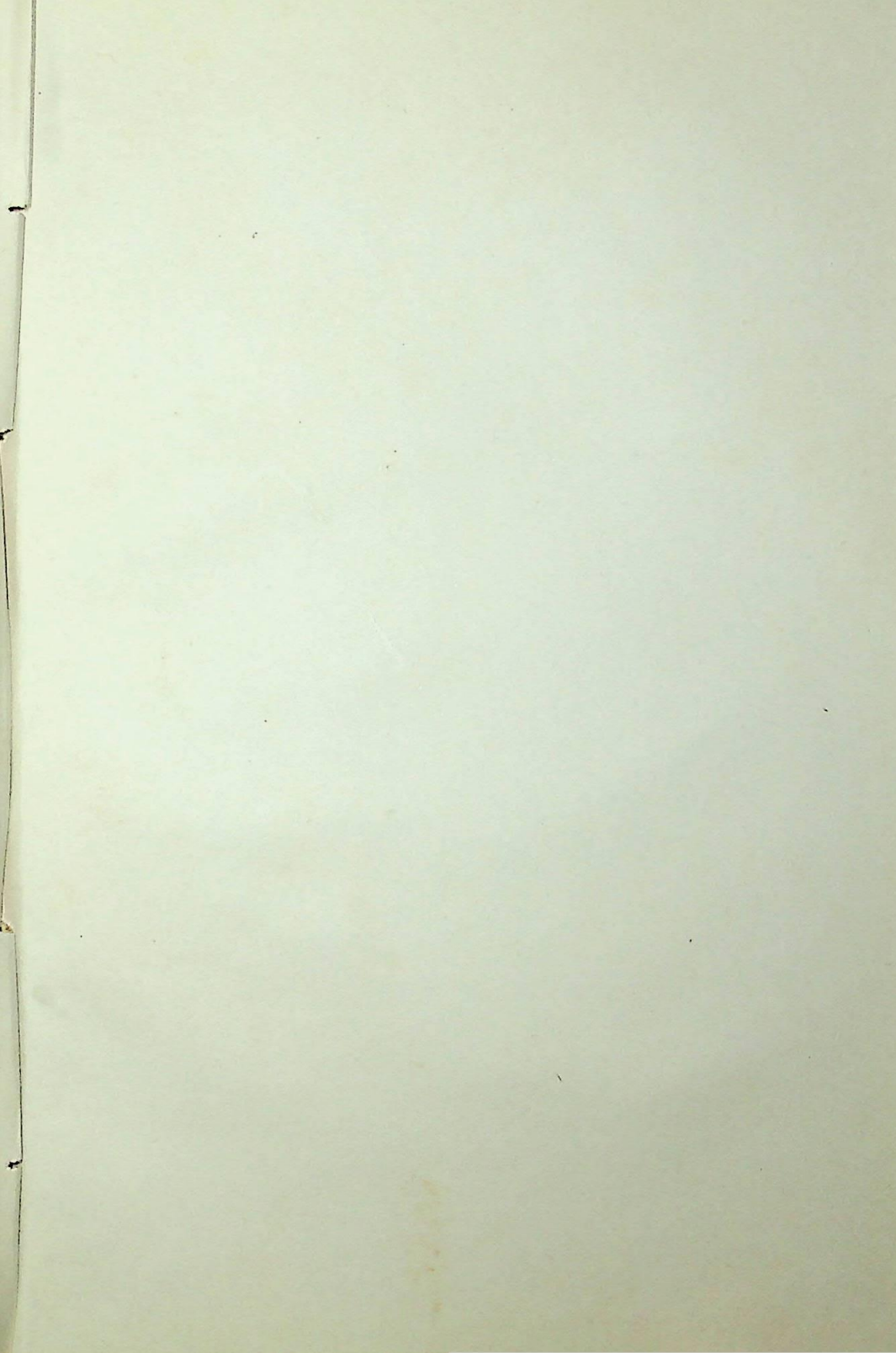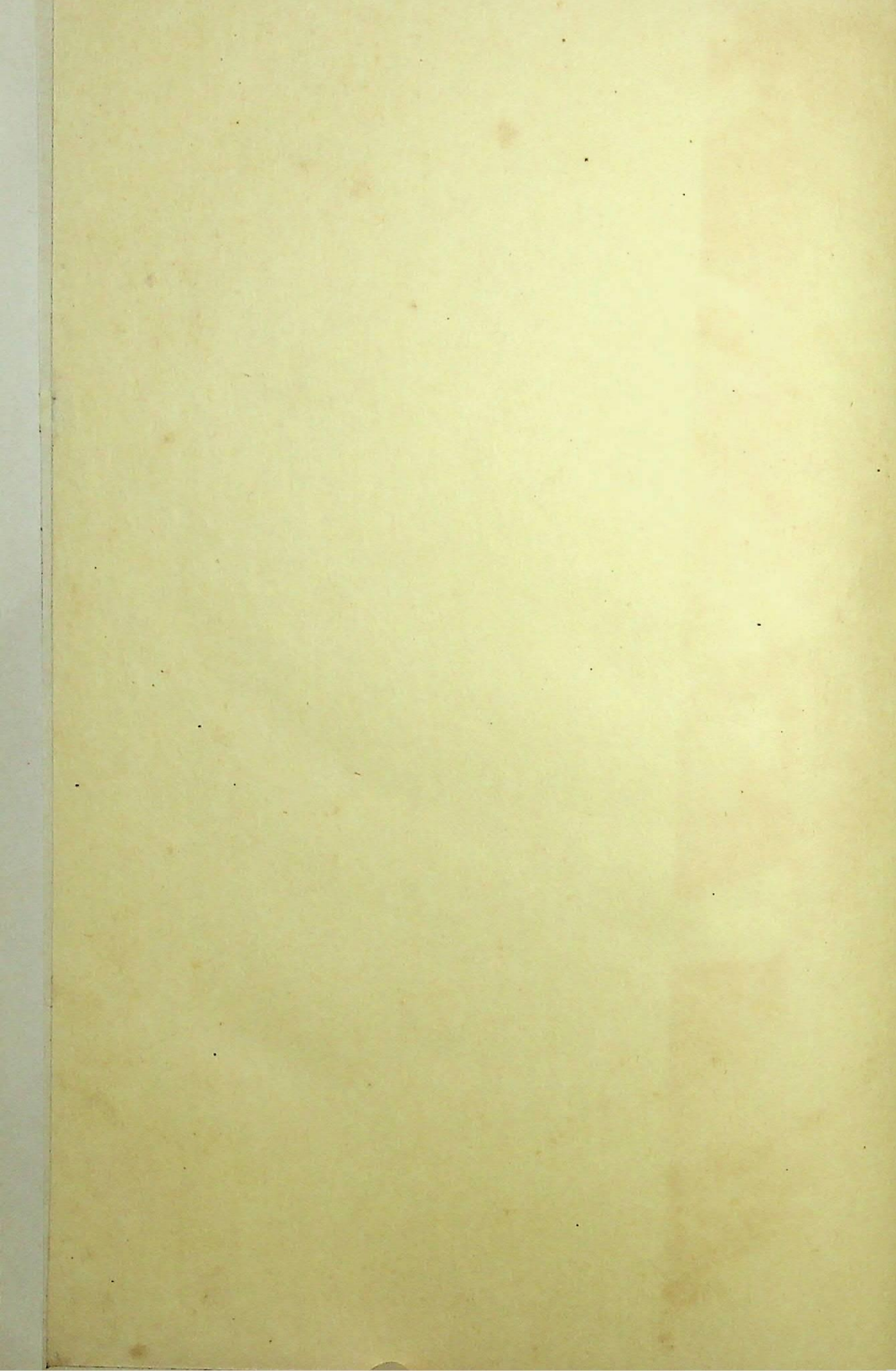
विश्वनाथप्रसाद तिवारी

हिन्दी के सुपरिचित कवि और आलोचक। महत्त्व-पूर्ण साहित्यिक त्रैमासिक 'दस्तावेज़' के सम्पादक तथा गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक।

प्रकाशित कृतियाँ

शोध और आलोचना

1. छायावादोत्तर हिन्दी गद्य साहित्य
2. नये साहित्य का तर्कशास्त्र
3. आधुनिक हिन्दी कविता : प्रसाद से अज्ञेय

कविता संकलन

1. चीजों को देखकर
2. साथ चलते हुए

सम्पादन

1. अज्ञेय
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी
3. प्रेमचन्द
4. मुक्तिबोध

निवास : बेतियाहाता, गोरखपुर (उ. प्र.)

डॉ. तिवारी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

साथ चलते हुए

कवि, समीक्षक डॉ. तिवारी की कविताओं का बहुचर्चित संग्रह। विपरीत परिस्थितियों में जी रहे मनुष्य की जिजी-विषा, उसकी संघर्षशील चेतना और मानवद्रोही ताकतों को तोड़नेवाली बेचैनी का गहन संवेदनात्मक साक्ष्य।

आधुनिक हिन्दी कविता

डॉ. तिवारी द्वारा प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा और अज्ञेय के काव्य का विस्तृत मूल्यांकन। यह पुस्तक वस्तुतः 'समकालीन हिन्दी कविता' का प्रथम खण्ड है, जिसे हिन्दी कविता के समग्र विकास के सन्दर्भ में अवश्य पढ़ा जाना चाहिए।